प्रेम-पुष्पाञ्जलि
तू दूर से है, हृदय में किन्तु मेरे पास है ।
मम हृदय में जीवन-शशी ! तेरा भरा सुविकास है ॥ —देवेन्द्र

"कुँवर देवेन्द्र करकञ्चन ते छूटी यह
प्रेम-पुष्प अञ्जलि सुहाई मनभाई है।
आरा प्रेम-मंदिर मे विविध विलास करि
हिन्दी-जग बीच सुचि सौरभ बगराई है।
प्रेम के पुजारी की प्रतिज्ञा पूरिबे के काज
आज वीर-मंदिर माँहि पुनि प्रगटाई है।
निखिल निकाई सो सजाई सुघराई नव
लखिये सुजान कैसी ललित लुनाई है॥"

सम्पादक

हिन्दी-भूषण

बाबू शिवपूजन सहाय

(सम्पादक, "मारवाड़ी-सुधार")

* आरा *

प्रकाशक

अनन्त कुमार जैन

वीर-मन्दिर

आरा।

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
जतनबड़, बनारस सिटी । ४५३-२२

"सुजनक प्रेम हेम समतूल
दहइत कनक दिगुन होय मूल ॥
टुटइत नहि टुटै प्रेम अदभूत
जैसन बढ़त मृनालक सूत ॥"

—विद्यापति ।

प्रेम-पुष्पाञ्जलि

प्रेम-मन्दिर के प्रसिद्ध प्रेमी पुजारी

स्वर्गीय कुमार देवेन्द्रप्रसाद

की

प्रेमामृतमयी पवित्रात्मा

की

तृप्ति और शान्ति

के लिये

उन्हीं की स्मृति-रक्षा की सदिच्छा से

तृतीय बार

उन्हीं के एक प्रिय मित्र द्वारा

संशोधित, सम्वर्द्धित एवं सुसम्पादित

तथा

उन्हीं के एक स्नेह-भाजन धर्मबन्धु द्वारा

प्रेम-पूर्वक प्रकाशित।

सम्पादक—

"हिन्दीभूषण" बाबू शिवपूजनसहाय,

आरा।

सब रस को रस को रस प्रेम है,
विषयी खेलै सार।
तन मन धन यौवन खिसै
तऊ न मानै हार ॥१॥

देखो करनी कमल की,
कीनो जल सों हेत।
प्राण तज्यो प्रेम न तज्यो,
सूख्यो सरहि समेत ॥२॥

—सूरदास।

प्रकाशक—

अनन्तकुमार जैन,

वीर-मन्दिर,

आरा।

कुसुम-क्यारी।

प्रकाशक का प्राक्कथन ।

आज मेरे परम सौभाग्य का विषय है कि यह प्रेममयी पुस्तक लेकर पहले-पहल हिन्दी-संसार के सामने उपस्थित होता हूँ। हिन्दी-माता के चरणों मे यह मेरी पहली श्रद्धाञ्जलि है। मै न तो प्रकाशक बनने के योग्य ही हूँ और न इस पुस्तक के सम्बन्ध मे कुछ कह सकने मे ही समर्थ हूँ। मेरा यह बिल्कुल प्रथम पयास है। और कुछ तो नही, मगर हृदय मे उमंग की तरङ्ग है, अनुराग और लालसा की उत्तेजना है। उसी के वशीभूत हो कर मैने यह चपलता या धृष्टता की है। आश्चर्य्य की बात है कि मै अपनी ढिठाई के लिये पश्चात्ताप नहीं करता। मुख्य कारण यह है कि मेरी चञ्चलता और धृष्टता मे अनुराग और उत्साह की सत्ता सम्मिलित है। अतः पाठक मुझे क्षमा करेगे, ऐसी आशा है।

इस पुस्ततक के दो संस्करण पहले प्रेम-मंदिर (आरा) से प्रकाशित हो चुके है। यह तीसरा संस्करण मेरे द्वारा संस्थापित और संचालित "वीर-मंदिर" (आरा) से प्रकट हो रहा है। गत दो संस्करणो से इस मे क्या विशेषता है, यह प्रत्यक्ष है। हाँ, उपयुक्त साधन और अनुभव के अभाव से मैं इस बार उतनी सजावट और सुन्दरता से इस पुस्तक को नहीं निकाल सका जितनी लकदक से यह पहले

निकल चुकी है। तड़क भड़क का ज़माना है सही, किन्तु वास्तव मे पुस्तक की बाहरी चमक-दमक को उतना महत्व नही दिया जाना चाहिये जितना उसके अन्तःपट की रमणीयता को देना उचित है। तो भी, मैंने पुस्तक को स्वच्छ और सुसज्जित बनाने मे कोई त्रुटि नहीं रहने दी है। ज्यों ज्यो मेरी जानकारी और मेरी अनुभव-शीलता बढ़ेगी त्यों त्यों मैं नया रंग और निराला ढंग पैश करने की चेष्टा मे प्रवृत्त होता जाऊँगा। यह मेरी पहली भेट यदि सहृदय प्रेमियों ने स्वीकृत कर ली तो अधिकतर उत्साहित हो कर मैं उनकी सेवा में शीघ्र ही कोई नया उपहार ले कर उपस्थित होऊँगा।

यद्यपि इस बार इस पुस्तक का बाहरी अंग पहले के ऐसा मनोमुग्धकर नहीं है तथापि इसका अन्तरङ्ग अत्यन्त रुचिरता-रञ्जित है। इसके सम्पादक और आदि-संग्रहकर्त्ता हिन्दीभूषण बाबू शिवपूजन सहाय जी (सम्पादक, मारवाड़ी-सुधार, आरा) ने इसे पुनः सुसम्पादित करके मुझे जो कृतज्ञ बनाया है उसके लिसे मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। आशा है, उनकी कृपा से, आगे चल कर, कुछ ही दिनो मे, मै कई उपदेश-प्रद एवं चित्तप्रसादक पुस्तकें प्रकाशित कर सकूँगा जिनसे पाठको का यथेष्ट मनोविनोद होगा।

मैं प्रेमी पाठकों को यह विश्वास दिलाता हूँ कि मैं वीर-मन्दिर द्वारा ग्रंथ-प्रकाशन का कार्य्य नियमित रूप से करूँगा। विशेषत ललित, चितचोर और दिलचस्प किताबे ही प्रकाशित करना अभीष्ट है जिन मे शुद्धता के साथ ऐसे ऐसे भाव सङ्कलित या सञ्चित किये गये रहेगे कि पाठक बरवश फड़क उठें और देखते ही उनका

चित्त चमत्कृत और चकित हो जाय। विशुद्ध भावमय साहित्य का प्रचार ही प्रधान लक्ष्य है। विश्वास है, प्रभुवर मेरी सहायता करेंगे।

यह पुस्तक अपने आदि-प्रकाशक की स्मृति-रक्षा के निमित्त, हिन्दी-संसार में, तीसरी बार, विशेष सरस सामग्री के साथ. पदार्पण कर रही है। आशा है, इसका समुचित स्वागत होगा और जिसका स्मारक यह बनना चाहती है उसकी स्वर्गस्थ अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो कर इसे आशीर्वाद देगी।

वीर-मंदिर, आरा,
वसंतपंचमी १९७८.

प्रेमियों का वशम्वद—
अनन्तकुमार जैन

सम्पादक का निवेदन।

"I can not do much", said a little star,
"To make the dark world bright!
My silvery beams can not struggle far
Through the folding gloom of night!
But I'm only part of God's great plan,
And I'll cheerfully do the best I can!"

मित्रवर कुमार देवेन्द्र प्रसाद इस पुस्तक के आदि-प्रकाशक थे। आज उनका पार्थिव शरीर इस धरा-धाम में नहीं है। किन्तु उनकी स्वर्गीय आत्मा इस पुस्तक के प्रेमपुष्पास्तरण पर विश्राम कर रही है।

छ-सात साल की बीती बात है। एक दिन मैं अपनी नोट-बुक में व्रजभाषा की कुछ कविताएँ उतार रहा था। वे अकस्मात् पहुँच गये। प्रसंगवश उन्होंने कविताओं को सुनने के लिये उत्सुकता प्रकट की। मैं सुनाने लगा। वे प्रेम की मस्ती में झूमने लगे। उन्होंने व्रजभाषा-साहित्य का अध्ययन करने की इच्छा भी प्रकट की। वे किसी रसीले ग्रंथ का पता पूछने लगे। मैंने उस समय की अपनी जानकारी के अनुसार "रसकुसुमाकर" का नाम बतलाया। मेरे पास उसकी एक हस्तलिखित प्रति थी। वह बड़ी सुन्दर थी। वे उसे उठा ले गये। नहीं, मुझे भी पकड़ कर अपने साथ ले

गये। ग्रीष्म का उष्ण मध्याह्न था। मैं उन की सुसज्जित कोठरी मे बैठ कर उन्हे काव्यानन्द का रसास्वादन करा रहा था। उत्तप्त मध्याह्न की प्रचण्डता भी उस विचित्र चित्र-कुटी की कुञ्ज-छाया मे आकर शीतल शरच्चन्द्रिका बन जाती थी। बात ही बात मे, मैंने उनसे "मर्य्यादा" के एक अंक मे प्रकाशित प्रिय-प्रवास-प्रणेता कविवर "हरिऔध जी" की "आँख के आँसू" शीर्षक कविता के भाव-गाम्भीर्य्य की भूरि प्रशंसा की। सुनने भर की देर थी। उन्हे उद्वेग हो गया। उनकी तीव्र उत्कण्ठा शान्त करने के लिये शाम को मैं आरा नागरी-प्रचारिणी सभा से "मर्य्यादा" की वह संख्या ले गया। जिस तल्लीनता के साथ उन्होने दो दो बार पढ़वा कर कविता सुनी वह आज भी मेरी आँखो मे नाच रही है। जिसने उन्हे कभी प्रेम-निमग्न होते समय देखा होगा वही कल्पना कर सकता है कि उनमे प्रेम की कैसी ज़बरदस्त बिजली भरी हुई थी। अन्ततोगत्वा उन्होने उस कविता को अलग पुस्तिका-रूप मे प्रकाशित कराने की अभिलाषा प्रदर्शित की। और, मुझ से यह भी कहा कि "आँसू" पर जितनी कविताएँ मिल सके उन्हे आप ढूँढ़ लाइये। मै आरा नागरी-प्रचारिणी सभा मे जाकर सरस्वती की फाइल ढूँढ़ कर, अवकाशाभाव के कारण, सिर्फ दो ही पद्य, चौथे-पाँचवे दिन, उनके पास लेकर गया—एक हरिऔध जी लिखित "दुखिया के आँसू" और दूसरा बाबू मैथिली शरण गुप्त रचित "आँसू"। शायद ये दोनो पद्य किसी एक ही साल की भिन्न भिन्न संख्याओं मे निकले थे। हरिऔध जी की "आँख का

आँसू" कविता अजहद पसन्द हो ही चुकी थी, मैथिली शरण जी की अनूठी रचना सुनकर उनका प्रेमार्द्र चित्त बाँसो उछल पड़ा। फिर क्या था, फड़कती हुई और रस चुहचुहाती हुई कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित करना निश्चित ही हो गया। क्योंकि उसी समय सरस्वती की एक नई संख्या में उसके माननीय सम्पादक का यह उत्साह-वर्द्धक वाक्य नज़र के नीचे पड़ गया कि "ऐसी ऐसी कविताओं का निकलना हिन्दी के सौभाग्य का सूचक है। इस प्रकार की कविताओं के संग्रह का खूब प्रचार होना चाहिये"। यह वाक्य श्रद्धेय द्विवेदी जी ने "राष्ट्रीय वीणा" के विषय में लिखा था। गत संस्करणों के अपने "प्रेमानुनय" में देवेन्द्र प्रसाद उक्त वाक्य का उल्लेख कर चुके हैं। बनारस के सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज में पढ़ते समय उन्होंने ता० २७–८–१२ को एक "विश्व-प्रेम-संघ" स्थापित किया था। उसी "Love Fraternity" का स्मारक-स्वरूप उन्होंने यह पुस्तक प्रकाशित करना स्थिर किया। किन्तु यह कौन जानता था कि तीसरी बार यह प्रेम-संग्रह उन्हीं का स्मारक बनेगा!

ख़ैर, विचार ही स्थिर होकर नहीं रह गया। आरा के प्रसिद्ध दानवीर रईस श्रीमान बाबू देवकुमार जी जैन द्वारा संस्थापित "जैनसिद्धान्त भवन" के अपूर्व ग्रंथ-संग्रहालय से अच्छी अच्छी मासिक पत्रिकाओं की फाइलें एकत्र हुईं। मैं प्रेमपूर्ण पद्यों को ढूँढ़ने लगा। ढूँढ़े हुए पद्यों में से चुन चुन कर कुछ पद्य इस पुस्तक के लिये लिखे गये। पुस्तक तैयार होते ही वे उसे लेकर प्रयाग

चले गये। उस समय की उनकी वह बात मुझे आज भी याद है कि "बिजली की मशीन होती तो रात भर मे इसे छपवा लेता"। बस, इसी वाक्य से उनकी पुस्तक-प्रकाशनोत्कण्ठा का पता लगा लीजिये कि उसका पारा कितना चढ़ा हुआ था!

पुस्तक बहुत देर से छपी परन्तु "देर आयद दुरुस्त आयद" के अनुसार ऐसी नफासत के साथ छपी कि उन्हे बधाइयाँ लेते लेते ऊब जाना पड़ा। दूसरे संस्करण को वे उसी खूबी के साथ नही छपा सके, क्योकि इण्डियन प्रेस (प्रयाग) ने उनका आग्रह स्वीकार नही किया। दूसरा संस्करण विशेष सुसज्जित रूप मे वे निकालना चाहते थे, पर पछताते ही रह गये। यही इस पुस्तक की आत्म-कथा है। कौन जानता था कि तीसरा संस्करण भी उनकी चाह पूरी न कर सकेगा! तीसरी आवृत्ति के प्रकाशक को भी इस बात का पछतावा है कि द्वितीय संस्करण की अपेक्षा इसे इस बार अधिक सुन्दर रंग-रूप देने का मनोरथ, कई अनिवार्य्य कारणो से, पूरा न हो सका। यह भी किसे मालूम था कि जो पुस्तक सौन्दर्य्य-राशि बन कर अवतीर्ण हुई थी वह क्रमशः रूप-हीन हो जायगी ?

रूप-हीन तो यह उसी दिन हो गयी जिस दिन इसे जी से बढ़ कर प्यार करने वाला चल बसा। अपने प्यारे रसिया के वियोग मे यदि केवल इसकी वेश-भूषा मे म्लानता आ गयी तो आश्चर्य्य ही क्या। शारीरिक सौन्दर्य्य नही है, बाह्य परिष्कार नही है, किन्तु इस वियोगिनी का मानसिक सौष्ठव पहले से बहुत बढ़ा-

चढ़ा है, इसके हृदय का शृङ्गार करनेवाला प्रेम बड़ा भव्य हो गया है, क्योंकि यह उस अपने बिछुड़े हुए की प्रेमात्मा से आलिङ्गन करने जा रही है। आशा है, इसका हृदय-क्षेत्र खूब प्रेम-परिप्लावित देख कर इसका प्यारा प्रसन्न होगा। यदि उसकी आत्मा तृप्त हुई तो मै भी कृतकृत्य हो जाऊँगा।

अपने प्रेमानुनय मे कुमार देवेन्द्र प्रसाद ने "संग्रह" शब्द के महत्व की ओर पाठको का ध्यान कुछ आकृष्ट किया है। उन्हे संग्रह करने का सचमुच बड़ा शौक़ था। संग्रह के लाभ अनेक है। अँग्रेज़ी-साहित्य मे सैकड़ों-हज़ारों संग्रह-ग्रंथ हैं। मैं जब शिक्षक था तब स्कूल की लाइब्रेरी में मैंने अँग्रेज़ी के तीन बड़े संग्रह-ग्रंथो को देखा था—(१) Thousand and one gems of Prose (२) Thousand and one gems of Poetry (३) Many thoughts of many minds. पहली पुस्तक मे अँग्रेज़ी-साहित्य के गद्य-भण्डार से चुने हुए १००१ रत्न थे और दूसरी मे, एक से एक सुन्दर, १००१ पद्यों का बड़ा ही अपूर्व संग्रह था। तीसरी पुस्तक के सङ्कलन-कर्त्ता और सम्पादक का नाम "हेनरी सौथगेट" था। मै तो उस पर Tenth Thousand edition छपा देख कर अत्यंत चकित हो गया! संग्रह-ग्रंथ का दस हज़ार बार संस्करण? न जाने कापियाँ कितनी कितनी छपती रही होंगी! उस ग्रंथ की संग्रहशैली की मै क्या बड़ाई करूँ! यहाँ स्थान का संकोच है। वैसी ही पुस्तक हिन्दी मे भी तैयार कराने का विचार देवेन्द्र प्रसाद ने स्थिर कर लिया था।

किन्तु इस क्षणभंगुर संसार में क्या कुछ भी स्थिर रह सकता है ? न रहा है ! न रहेगा ! यदि हिन्दी-साहित्य-संसार मे संस्कृत के "सुभाषितरत्नभाण्डागार" ही की तरह का कोई अच्छा संग्रह-ग्रंथ किसी कर्मवीर और दानवीर की कृपा से प्रकाशित हो जाय तो हिन्दी का बड़ा भारी उपकार हो। मै उपर्युक्त संग्रह-ग्रंथो की प्रशंसा इस लिये नही कर आया हूँ कि उन्ही की श्रेणी मे अपने इस छोटे प्रेम-संग्रह की भी गणना कराना चाहता हूँ बल्कि इस लिये कि अच्छे अच्छे बृहत् संग्रह-ग्रंथ प्रकाशित करने की ओर सुयोग्य पुरुषो का ध्यान आकर्षित करूँ। यह चुटकला संग्रह तो दो चार घड़ी की दिलचस्पी के लिये है। पूर्वोक्त संग्रहो से इस की तुलना ही कैसी ? उनके आगे इसका महत्व ही क्या है ?

अब इस पुस्तक के सम्बन्ध मे मुझे इतना ही कहना है कि इसका सम्पादन करते हुए मैने इसके आदि-प्रकाशक मित्रवर कुमार देवेन्द्र प्रसाद के भावो की कहीं हत्या नही की है। जहाँ कही मैने काट-छाँट की है वहाँ उनके मुख्य भावो की रक्षा का पूरा ध्यान रखते हुए अनावश्यक सामग्री अलग कर के उपयोगी और रुचिकर सामग्री बहुलता से सम्मिलित कर दी गयी है। जहाँ तक उपयुक्त उपकरण उपलब्ध हो सका, सेवा मे उपस्थित करता हूँ। यदि सहर्ष स्वीकार कीजियेगा तो आगे साल चौथी आवृत्ति इससे भी सुन्दर लीजियेगा।

अन्त में, जिन माननीय कवियो की कविताएँ इस पुस्तक की शोभा की अंगपूर्त्ति के लिये संग्रहीत हुई है उन्हे कोटिशः धन्यवाद

दिये बिना मैं अपना निवेदन समाप्त करना नहीं चाहता। उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना मुख्य कर्त्तव्य समझता हूँ। क्योंकि उन्हीं के करुणा-कणों ने इस प्रेम-पुष्करिणी को परिपूर्ण किया है। आशा है कि उनके प्रेम-सन्देश को सुन कर अनेक हृदयों में प्रेममयी शान्ति उत्पन्न होगी।

आरा (विहार)
मार्गशीर्ष १९७८

कवियों और प्रेमियों का
वशम्वद
शिवपूजन सहाय

(कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त)

(१)

अन्तर्यामी अखिलेश चराचर-चारी !
जय निर्गुण, सगुण, अनादि, आदि, अविकारी।
पाता है कोई पार न नाथ ! तुम्हारा,
चलता है यह संसार तुम्हीं से सारा ॥

(२)

पाकर हे विश्वाधार ! तुम्हारा ही बल,
है निश्चल यह आकाश और यह भूतल।
बहता है नित जल-वायु, अनल जलता है,
द्रुम-गुल्म-लता-दल फूल फूल फलता है ॥

(३)

हे ईश ! तुम्हीं से रवि प्रकाश पाता है,
कृश हुआ जलाधर फिर विकाश पाता है।
है तारे करुणा-विन्दु तुम्हारे प्यारे,
न्यारे न्यारे हैं खेल तुम्हारे सारे ॥

(४)

हम जब तक अपना जन्म धरा पर धारे,
हो जाती है उत्पन्न दूध की धारें।

वात्सल्य तुम्हारा जलद दिखा जाते है,
मृदु-अंकुर भू-तल भेद निकल आते हैं॥

(५)

गा सके तुम्हारे गुण न वेद भी हारे,
प्रभु! कोटि कोटि हैं तुम्हें प्रणाम हमारे।
हो तुम से केवल तुम्हीं; कौन तुम सा है?
तुम बीज-रूप हो देव! जगत् द्रुमसा है॥

(६)

रहती है जन पर सदा तुम्हारी ममता,
क्षमता अद्भुत है नहीं कहीं भी समता।
सर्वेश! शक्ति हो तुम्हीं शक्ति हीनो की,
गहते हो दुख में बाँह तुम्हीं दीनों की॥

(७)

अपने बल का अभिमान जिसे होता है,
क्यो अन्त समय वह मृतक पड़ा सोता है?
हे विधुवर! हमको प्राण तुम्ही देते हो,
फिर क्या? जब तुम निज अंश खींच लेते हो॥

(८)

पुष्पाञ्जलि-सम यह प्रेम-पुस्तिका लीजे,
अङ्गीकृत कीजे इसे दृष्टि-वर दीजे।
वाणीपति हो हरि! तुम्हीं, तुम्ही श्रीपति हो,
अब अधिक कहे क्या, तुम्हीं हमारी गति हो॥

(साहित्य-पत्रिका)

यह वह मिश्री की डली है कि न इससे बात करे ।
संखिया खाकर मरे पर इश्क ज़बाँ पर न धरे ॥
लो !
तुम्हारी बला
"तुम्हीं" को
इश्क़ शै वो है कि पत्थर को दम मे आब करे ।
लगाये दिल वही जिसे ख़ुदा ख़राब करे ॥

"प्रेमोपहार"

जो कुछ था सो किया समर्पण क्या अब दूँ उपहार तुझे ?
सभी पुरातन व्यवहृत ही सा होता है अब ज्ञात मुझे !
हाँ नव अश्रु-कण है केवल वही आज देता उपहार।
प्रियतम पूरी श्रद्धा लख कर कर लेना इसको स्वीकार ॥

—"पारस"

होता न अगर दिल तो मुहब्बत भी न होती ।
होती न मुहब्बत तो यह आफत भी न होती ॥

प्रेम के साहित्य में
भाषा नहीं है, भाव है।

प्रेम की भाषा सर्वत्र एक है। जो अमेरिका मे है वही भारत मे भी। जो श्रीकृष्ण के समय मे थी वही आज दिन भी है। महात्मा बुद्ध देव, चैतन्य देव और 'प्रभु महावीर स्वामी' के समय मे भी वही थी। क्षुधार्त्त को अन्नदान, तृषित को जलदान, नग्न को वस्त्रदान, स्तनन्धयशिशु को दुग्धदान, पतिहितार्थ सती को सर्वस्वदान—सभी एक भाषा से निष्पन्न है। इस का अनुवाद, अन्वय, व्याख्या एवं भाष्य नही।

—देवेन्द्र।

प्रेमोपहार क्या है ?

"प्रेम-यज्ञ न पूर्ण होता
स्वार्थ की आहुति बिना !"

इस 'प्रेमसाहित्य का मुख्य उद्देश' है कि इसके अध्ययन मात्र से ही समस्त नर नारी मण्डल 'आत्मीयता और एकता' के प्रेम-सूत्र में स्वतः ही बँध जायँ। इसका मुख्य उद्देश, उपदेश 'प्रेम-प्रचार' ही है। 'प्रेम' ही द्वारा सब की 'सच्ची सेवा' साध्य है। 'द्वेषाभाव' द्वारा ही 'सर्वव्यापी-सुख' और 'प्रेम की प्राप्ति' सम्भव है।

—देवेन्द्र।

प्रेम-पारावार परमेश्वर !

(कविवर पं० रूपनरायण पाण्डेय)

जय प्रभु प्रेम-पारावार ।

मिटत तीनिहु ताप सेवत, छुटत विषय बिकार ।।

रहत तुम महँ मगन योगी, चहते श्रुति को सार ।

लहत ब्रह्मानन्द निरमल, बहत दृग जल-धार ।।

गर्व करि ज्ञानी गये थकि, नाहि पायो पार ।

होत जा पै लहर सोइ, तरि जात यह संसार ।।१।।

(कविता-कौमुदी)

प्रेम-भिक्षा !

(श्रीमान् मनोरंजनप्रसाद सिंह)

हे प्रभो !

जब देवताओं ने तुम्हारे भेद को पाया नही।

खोज करते थक गये पर बुद्धि मे आया नही।

तब शक्ति मुझ मे है कहाँ जो भेद तेरा पा सकूँ।

है वेद में ताकत नहीं, मैं गुण तेरा क्यों गा सकूँ ?

* * *

धन की नही है चाह कुछ, यश की वहीं पर्वाह है।

इस क्षुद्र जीवन का तुम्हारे हाथ मे निर्वाह है ।।

इस दीन बालक के विनय पर हे प्रभो तुम कान दो।

सब का करो कल्याण. मुझ को प्रेम का तुम दान दो ।।

प्रेम-पथ !

इस पथ का उद्देश नहीं है
श्रान्त भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर
जिसके आगे राह नहीं ॥

—कवि जयशंकरप्रसाद ।

प्रेम-पथिक ।

बहै धीरी धीरी जहँ पवन सौरी उमँग को ।
लता लूमै झूमै प्रिय सुरति घूमैं मद-छकी ॥
मिलैगो उत्साही पुर तहँ तुम्हें आनँदकरी ।
चले जैयो पंथी यह मग धरे प्रीतम-पुरी ॥
मिलै उत्कण्ठा को उपवन न काको मन रमै ।
घनी छाया लीजौ नहि विमल कीजौ तिहि समै ॥
कटाक्षों से लज्जा-निय जब बुलावै मद-भरी ।
चले जैयो पन्थी नहि तहँ बितैयो इक घरी ॥

—"वियोगी हरि" ।

"प्रेमानुनय"*

"लीजिये दिल खोल कर यह प्रेम का उपहार है।
विश्वसेवा कीजिये यह प्रेम का सत्कार है॥
प्रेममय हो जाइये गुण गाइये बस प्रेम का।
प्रेम-नेम निबाहिये साधन यही है क्षेम का॥"

—देवेन्द्र।

प्रेम के माधुर्य्य की वृद्धि या उपलब्धि तभी हो सकती है जब इसका अनर्गल एवं अविरल रूप से सर्वदा सर्वत्र प्रचार होता रहे, प्रेम-संसार के शरीरियों का यह कर्त्तव्य भी है कि प्रेम का सञ्चय न करे बल्कि उदारतापूर्वक इसका सुधा-कलश विश्व-वाटिका की एक एक कुसुम क्यारी में ढालते फिरे। प्रेम की धारा जिस धराखण्ड पर बहती है वह न स्वर्ग का सा है—न अमरावती का सा है—न अलकापुरी का सा है और न लंका के दुर्गम दुर्ग का सा है—इसमें कुछ और ही विलक्षणता है—यह इन सबों से भी निपट निराला है—वहाँ न धन का निठाला है और न पाप का मसाला है—केवल सुशान्ति का बोल बाला है।

यह 'प्रेमस्तवक' यदि सुरसिकों के मन भाया—सुरुचि की वृद्धि कर सका, स्नेह-साधना सदन में सिद्धि भर सका तो उत्साहित

---

* यह "प्रेमानुनय" प्रेम-पुष्पाञ्जलि के प्रथम संस्करण में "प्रेम-मंदिर के प्रेमी पुजारी" द्वारा लिखा गया था। इसका कुछ अंश इस तीसरे संस्करण में छोड़ दिया गया है। केवल महत्वपूर्ण एवं आवश्यक अंश संकलित है।

—सम्पादक।

होकर ऐसे ऐसे 'परिजात स्तवक' रचने में विशेष रूप से 'दिल दिमाग-दीनार' को दफन किया जायगा ।*

'संग्रह'—इस शब्द मे अप्रतिम शक्ति है। भली भाँति विचारिये। इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका इत्यादि सभ्य तथा उन्नत देशों में 'संग्रह' शब्द का अलौकिक अर्थ सभी लोग अच्छी तरह समझते है। यही कारण है कि अंग्रेजी साहित्य ऐसे महत्त्व का हो गया कि "गगनं गगनाकारं सागर: सागरोपम:"—वह अत्युक्ति भी चरितार्थ है।

अन्धेरे की चीजे आलोक मे चली आवे, सब देश की सरिताएँ मिल कर एक सागर उमड़ायें, सब स्फुट अक्षर मिल कर एक वृहद् ग्रंथ गढ़ डाले, यही मुग्धकर, यही सुखकर, यही रुचिकर और यही अभीष्टवर।

इस प्रेमपुष्पाञ्जलि 'महोत्सव' मे 'योग' देने वाले—इस प्रेम-पर्वतारोहण मे 'करावलम्बन' देने माले—प्रेमी सम्पादकों और प्रेमी कवियो को प्रेमप्लुत पावन हृदय के अन्तरतम प्रदेश से साधुवाद है—प्रेमाशीर्वाद है।

"अनेकत्व होगा न एकत्व तेरा। न एकत्व होगा अनेकत्व मेरा ॥
न त्यागे तुझे शक्ति सर्वज्ञता की। लगी है मुझे व्याधि अल्पज्ञता की ॥
दुई का घटाटोप घेरा रहेगा।
मिटेगा नहीं मेल मेरा रहेगा ॥"—"शङ्कर"

—देवेन्द्र

---

* अफसोस! दिल—दिमाग—दीनार को दफन करने वाले दिलदार देवेन्द्र दोस्तों का दिल—दर्द दुगुना कर के दुनिया से दर—किनार हुए!!

"प्रेम-तत्त्व"

(साहित्यरत्न पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय)

हो के उत्कण्ठ प्रिय-सुख की भूयसी-लालसा से।
जो वृत्ती है हृदय-तल की आत्म-उत्सर्ग-शीला।
पुण्याकांक्षा धरम-रुचि वा कीर्त्ति-लिप्सा बिना ही।
ज्ञाताओं ने प्रणय-अभिधा दान की है उसी को॥

आ सकता है अमित नलिनी एक-छाया-पती मे।
प्रेमोन्मत्ता विमल-विधु की है सहस्रो चकोरी।
जो बाला हैं विपुल हरि मे रक्त वैचित्र्य क्या है?
प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है।

पाई जाती जगत जितनी वस्तु है जो सबो मे।
मैं प्यारे को बिबिध-रँग और रूप में देखती हूँ।
तो मैं कैसे न उन सब को प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा॥

ताराओं मे तिमिर-हर में वह्नि में औ शशी में ।
पाई जाती परम-रुचिरा-ज्योतियाँ हैं उसी की ।
पृथ्वी पानी पवन नभ में पादपो मे खगों मे ।
देखी जाती प्रथित प्रभुता विश्व में व्याप्त की है ॥

⚜ ⚜ ⚜ ⚜

प्यारी-सत्ता जगत-गत की नित्य-लीला-मयी है ।
स्नेहो-सिक्ता परम-मधुरा पूतता मे पगी है ।
ऊँची-न्यारी-सरल-सरसा ज्ञानगर्भा मनोज्ञा ।
पूज्या मान्या हृदय-तल की रंजिनी उज्ज्वला है ॥

⚜ ⚜ ⚜ ⚜

प्यारे आवे मृदु-बयन कहे प्यार से अंक लेवें ।
ठण्ढे होवे नयन-दुख हो दूर मै मोद पाऊँ ।
ए भी है भाव हिय-तल के और ए-भाव भी है ।
प्यारे जीवे जगत-हित करे गेह चाहे न आवें ॥

⚜ ⚜ ⚜ ⚜

"पाती हूँ विश्व प्रियतम में
विश्व में प्राण प्यारा ।
ऐसे मैंने 'जगत-पति को
'श्याम' मे है विलोका" ॥

(प्रणयिनी राधा)

(प्रियप्रवास)
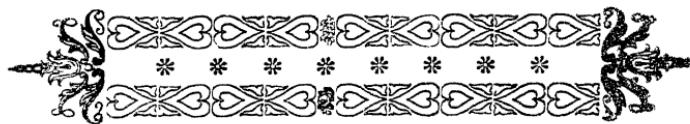
स्नेह-सम्मेलन ।

प्रियवर प्रेमियो,

आप लोगों के प्रेम का यह प्रसाद है जो मैं "प्रेमपुष्पाञ्जलि" का द्वितीय संस्करण लेकर प्रेम-संसार मे उपस्थित होता हूँ । प्रेम का यथेष्ट प्रचार और उचित सत्कार देख कर मुझे आशातीत सन्तोष हुआ है, इस गुणग्राहकता के लिये मै प्रेम पूर्ण हृदय से आप लोगों का कृतज्ञ हूँ । प्रेमोपहारमाला की सभी पुस्तकें प्रेमियों को पसन्द पड़ी हैं, यह मेरे उत्साह को बढ़ाने के लिये कम नहीं है ।

"प्रिय प्रेमियो ! सस्नेह इसको
आप यदि अपनायँगे ।
तो 'फिर' सुमन-उपहार लेकर
प्रेम का हम आयँगे" ।

प्रेम-मन्दिर,
आरा
२४-३-१९१९

—देवेन्द्र ।

दुःख है कि मित्रवर देवेन्द्र के 'फिर' पर यमलीला की यवनिका गिर गयी ! उनके मनोरथ-मयक के चारों ओर सघन मेघमाला घिर गयी ! प्रेम-मन्दिर पर अचानक बिजली गिर गयी ! कौन जानता था कि प्रेम का सुमनोपहार लेकर वे फिर न आयँगे ! कौन जानता था कि उनका यह अन्तिम शब्द 'फिर' फिर कभी फिरने वाला नही है । —'सम्पादक'

विश्व-प्रेम

"सीमा-रहित-अनन्त-गगन सा
विस्तृत उसका 'प्रेम' हुआ।
'औरो का कल्याण-कार्य्य ही'
उसका अपना 'क्षेम' हुआ॥

हिंसक पशु भी उसे देख कर
पैरों में पड़ जाते थे,
मुँह मे हाथ दाब कर धीरे
'मीठी थपकी' पाते थे।"

"रखती थी 'प्रेमार्द्र' सभी को
वह अपने व्यवहारों से,
पशु-पक्षी भी सुख पाते थे
उसके शुद्धाचारों से॥"

(शकुन्तला)

—मैथिलीशरण।

"की पूछसि, सखि !
अनुभव मोय ?
सोई पिरीति अनुराग बखानिबे
तिल तिल नूतन होय ॥"

—'विद्यापति'

* * *

न यह मन्दिर न यह मसजिद न है वह आइनाखाना ।
बिरादरहुड मरीज़ाने मुहब्बत का शफ़ाखाना ॥

* * *

भटकते फिरते हो क्यों इस तरफ आओ इधर देखो ।
घिरा है प्रेम-शक्ती से बिरादरहुड का घर देखो ॥
अजब है प्रेमशक्ती आज़मा कर खुद असर देखो ।
नहीं हाजत बयाँ करने की आँखे खोल कर देखो ॥

—वर्म्मा ।

* * *

"शेई के बले पिरीति भाल ?
हाँसिते हाँसिते पिरीति करिया,
काँदिते जनम गेल !"

बँगला—'चण्डीदास'

मन में प्रेम का उद्भव न होने की अपेक्षा प्रेम करके अपयश प्राप्त होना भला।

—लार्ड टेनिसन।

प्रेम एक बिजली की तरह है और प्रत्येक प्राणी के हृदयाकाश मे यह प्रेम की बिजली रह रह कर नाच उठती है। यह प्रेम की बिजली की लहर अपने समान हृदय पात्र को पाते ही उसके गम्भीर हृदय मे घुस जाती है। जिस प्रकार चुम्बक पाषाण और लोहा एकत्र होने हर मिल जाते हैं उसी प्रकार समान-सरस भावों वाले हृदयो में बिना प्रयास ही निःस्वार्थ प्रेम का विकास हो जाता है।

—देवेन्द्र।

"दर्शने स्पर्शनेवापि
श्रवणे भाषणेऽपि वा।
यत्र द्रवत्यंतरंगं
स स्नेह इति कथ्यते ॥"

—'सुभाषित'

सज्जनों का प्रेम !

(सत्यनारायण कविरत्न)

सुख दुःख मे नित एक हृदय को प्रिय विराम थल ।
सब विधि सों अनुकूल विशद लच्छनमय अविचल ॥
जासु सरसता सकै न हरि कबहूँ जरठाई ।
ज्यों ज्यों बाढ़त सघन सघन सुन्दर सुखदाई ॥
जो अवसर पर संकोच तजि परनत दृढ़ अनुराग सत ।
जग-दुर्लभ सज्जन प्रेम अरु बड़भागी कोऊ लहत ॥

—(उत्तर रामचरित)

प्यार !

प्यार ! कौन सी वस्तु प्यार है ? मुझे बता दो ।
किस को करता कौन प्यार है ? यही दिखा दो ॥
पृथ्वीतल पर भटक भटक समय गँवाया ।
ढूँढ़ा मैंने बहुत, प्यार का पता न पाया ॥
यों खो कर के अपना हृदय, पाया मैंने बहुत दुख ।
पर यह भी तो जाना नहीं, होता है क्या प्यार-सुख ॥

—पं० रामचन्द्रजी शुक्ल (सरस्वती)

भक्त की अभिलाषा ।

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूँ ।
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ ॥

तू है सुखद ऋतुराज तो मै एक छोटा फूल हूँ
तू है अगर दक्षिण-पवन तो कुसुम की मैं धूल हूँ ।
तू है सरोवर अमल तो मै एक उसका मीन हूँ
तू है पिता तो पुत्र मैं तव अङ्क में आसीन हूँ ॥

तू अगर सर्वाधार है तो मैं एक आधेय हूँ
आश्रय मुझे है एक तेरा, श्रेय या अश्रेय हूँ ।
तू है अगर सर्वेश तो मैं एक तेरा दास हूँ
तुझको नहीं मै भूलता हूँ, दूर हूँ या पास हूँ ॥

तू है पतितपावन प्रकट तो मैं पतित मशहूर हूँ
छल से तुझे यदि है घृणा तो मै कपट से दूर हूँ ।
है भक्ति की यदि भूख तुझको तो मुझे तव भक्ति है
अति प्रीति है तेरे पदों में, प्रेम है, आसक्ति है ॥

तू है दया का सिन्धु तो मैं भी दया का पात्र हूँ
करुणेश तू है, चाहता मैं नाथ करुणा मात्र हूँ ।
तू दीनबन्धु प्रसिद्ध है मैं दीन से भी दीन हूँ
तू नाथ ! नाथ अनाथ का, असहाय मैं प्रभु हीन हूँ ॥

तव चरण अशरण शरण हैं मुझको शरण की चाह है
तू शीतकर है दग्ध को, मेरे हृदय में दाह है ।
तू है शरद्-राका-शशी ममचित्त-चाह चकोर है
तव ओर तज कर देखता यह और की कब ओर है ॥

हृदयेश ! अब तेरे लिए है हृदय व्याकुल हो रहा
आ-आ ! इधर आ ! शीघ्र आ ! यह शोर यह गुल हो रहा ।
यह चित्त-चातक है तृषित, कर शान्त करुणा-वारि से
घनश्याम ! तेरी रट लगी आठो पहर है अब इसे ॥

तू जानता मन की दशा रखता न तुझसे बीच हूँ
जो कुछ कि हूँ तेरा किया हूँ उच्च हूँ या नीच हूँ ।
अपना मुझे अपना समझ तपना न अब मुझको पड़े
तज कर तुझे यह दास जाकर द्वार पर किसके अड़े ॥

तू है दिवाकर तो कमल मैं, जलद तू मैं मोर हूँ
सब भावनाएँ छोड़ कर अब कर रहा यह शोर हूँ—
मुझमे समा जा इस तरह तन प्राण का जो तौर है
जिसमे न फिर कोई कहे मैं और हूँ तू और है ॥

—कविवर "सनेही" (सरस्वती)

कभी कुछ और कभी कुछ।

(श्रीमान् कवि गोपालशरणसिंह जी)

बराबर एक पथ पर तुम नहीं चलते नजर आते।
कभी इस ओर हो जाते कभी उस ओर हो जाते॥
कभी तो तुम हमे निज छवि-सुधा सन्तत पिलाते हो।
कभी फिर दर्शनो के हित हमे दिन रात तरसाते॥१॥

❦

कभी तो रूठ जाने पर हमे बहुविध मनाते हो।
कभी फिर बोलने की भी कृपा हम पर न दिखलाते॥
कभी आकर स्वयं हमसे विनययुत याचना करते।
कभी मम प्रार्थना को भी न तुम हो चित्त मे लाते॥२॥

❦

कभी बन कर सुधाकर तुम सुधाधारा बहाते हो।
कभी विष-वारि-बूँदो को निरन्तर खूब टपकाते॥
कभी अलि बन स्वयं पंकज-कली हमको समझते हो।
कभी फिर मान कर चम्पा हमारे ढिग नहीं आते॥३॥

कभी तुम प्रेम के जल से हृदय-वल्ली खिलाते हो।
कभी उसको उपेक्षा के अनल से खूब झुलसाते॥
कभी तुम पूर्ण आशा की विमल ज्योत्स्ना दिखाते हो।
कभी नैराश्य की काली निशा हो सामने लाते॥४॥

कभी तो प्रेम का शुभ-पाठ तुम हमको पढ़ाते हो।
कभी फिर प्रेम की बाज़ी स्वयं ही हार तुम जाते॥
कभी वीणा बजा कर तुम रिझाते अमृत बरसाते।
कभी तुम फिर हमे हरदम खिझाते क्लेश पहुँचाते॥५॥

कभी तो प्रेम से मिल कर गले हमको लगाते हो।
कभी कर के किनारा तुम हमें अत्यन्त कलपाते॥
कभी तो कुसुम से कोमल हमे तुम ज्ञात होते हो।
कभी कर्कश कुलिश जैसे कठोराकार हो जाते॥६॥

(सरस्वती)

हमारे सामने ।

(कवि—श्रीमान् बाबू महादेवप्रसादजी सेठ)

आह ! प्रियतम इस तरह किस ध्यान मे—
हो खड़े ? बैठो, धरा क्या मान में ॥१॥
पूछते हो क्या कि हम दोषी नहीं—
हाँ ! नही दोषी हम अपनी जान में ॥२॥
भक्त हैं हम या नही हैं जाँच लो,
भेद सब खुल जायगा इक आन मे ॥३॥
व्यर्थ कहते हो नही हम क्रुद्ध हैं,
आज हो तुम और ही सामान में ॥४॥
भक्ति मे भी शक्ति होती है बड़ी,
मत रहो भूले तुम अपनी शान मे ॥५॥
क्यों भला यह किस लिये संकोच है ?
दोष क्या है प्रेम के इस पान मे ॥६॥
हाँ करो अभिमान लेकिन सोच लो,
मर न जाये हम कही इस मान मे ॥७॥
सच कहो, मिलता है क्या तुमको मज़ा ?
निर्दयी निष्ठुर हठीली बान में ॥८॥
हाँ सखे हमको दिखा दो तो वही,
गोपियाँ मोही थी जिस मुसकान मे ॥९॥
क्यों सखे करते हो तुम हमको निराश,
क्या धरा है इस ज़रा से दान मे ॥१०॥
चाहते हम कुछ नहीं इसके सिवाय,
तुम ज़रा हँस दो हमारे सामने ॥११॥

(सरस्वती)

स्वदेश-प्रेम ।

(कविवर पं० रामनरेश त्रिपाठी)

(१)

जिसके मानस में स्वदेश का बसा विमल अनुराग,
जिसने देश-प्रेम के पीछे दिया सर्व सुख त्याग ।
है स्वदेश-हित-साधन में रत जो जन ममता भूल,
भाई ! उससे सुनो प्रेम की परिभाषा सुख मूल ॥

(२)

जिसके मन में है स्वदेश की सेवा का अनुराग ।
है प्रज्वलित हृदय में उसके चिर दृढ़ता की आग ॥
आशामय अनुरोध प्रलोभन सुख-लालसा समस्त ।
हो जाते हैं उस पावक मे राख रूप हो अस्त ॥

(३)

सच्चे देशभक्त का होता हृदय महा बलवान ।
सेज तेज काँटों की उसको लगती फूल समान ॥
विचलित उसे न कर सकता है कभी मान अपमान ।
उसे कहाँ सुधि कष्टों की है वह है प्रेम-निधान ॥

(४)

रे मतिमन्द ! न कर प्रेमी को बन्दीगृह मे बन्द ।
कर देगा वह अन्य बन्दियों को भी चिर स्वच्छन्द ॥
हैं स्वतंत्र प्रभु, स्वतंत्रता में बसते हैं भगवान ।
प्रेमी उन्हे प्रत्यक्ष करेगा करके विविध विधान ॥

(मिलन)

"प्रेमोन्मत्त"

प्रेम से होकर मत्त अधीर,
सामने आया है रणधीर।
नहीं है दुनिया की पर्वाह,
नहीं है गृह-कुटुम्ब की चाह।
चाह ? बस, एक बात की चाह,
होय माता का पुनरुद्धार ॥
नहीं पत्नी का प्यारा प्रेम,
डिगा सकता है उसका नेम।
नहीं हथकड़ियों की झनकार,
छिपा सकती उसका उद्गार।
प्रेम है उसका उच्चादर्श,
देयगा उस पर प्राण सहर्ष।
कहेगा फिर भी बारम्बार,
विश्व में होय प्रेम-सञ्चार ॥

—"विकल" (छात्र-सहोदर)

आँख का आँसू ।

(कविसम्राट् पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय)

आँख का आँसू ढलकता देख कर
जी तड़प करके हमारा रह गया
क्या गया मोती किसी का है बिखर
या हुआ पैदा रतन कोई नया ॥

"ओस की बूँदे कमल से है कढ़ीं
या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ
या अनूठी गोलियाँ चाँदी मढ़ी
खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ" ॥

ना ! जिगर पर जो फफोला था पड़ा
फूट करके वह अचानक बह गया
हाय ! था अरमान जो इतना बड़ा
आज वह कुछ बूँद बनकर रह गया ॥

पूछते हो तो कहो मैं क्या कहूँ
यों किसी का है निराला पन गया ?
दर्द से मेरे कलेजे का लहू
देखता हूँ आज पानी बन गया ॥

"प्यास थी इस आँख को जिसकी बनी
वह नहीं इसको सका कोई पिला।
प्यास जिससे हो गई है सौगुनी
वाह ! क्या अच्छा इसे पानी मिला ? ॥

गया हो कैसा निराला यह सितम
भेद सारा खोल क्यों तुमने दिया
यों किसी का है नहीं खोते भरम
आँसुओ ! तुमने कहो यह क्या किया ? ॥

झाँकता फिरता है कोई क्यों कुँआँ
हैं फँसे इस रोग मे छोटे बड़े
है इसी दिल से तो वह पैदा हुआ
क्यों न आँसू का असर दिल पर पड़े ? ॥

बात अपनी ही सुनाते हैं सभी
पर छिपाये भेद छिपता है कहीं

"जब किसी का दिल पसीजेगा कभी
आँख से आँसू कढ़ेगा क्यों नहीं" ? ॥

आँख के पर्दों से जो छन कर बहे
मैल थोड़ा भी रहा जिस में नहीं ॥
बूँद जिसकी आँख टपकाती रहे
दिल-जलो को चाहिए पानी वही ॥

हम कहेगे क्या ! कहेगा यह सभी
"आँख के आँसू न ये होते अगर
बावले हम हो गये होते कभी
सैकड़ों टुकड़े हुए होता जिगर" ॥

है सगों पर रंज का इतना असर
जब कड़े सद्मे कलेजे ने सहे
सब तरह का भेद अपना भूल कर
आँख के आँसू लहू बन कर बहे ॥

क्या सुनावेंगे भला अब भी खरी
रो पड़े हम पत तुम्हारी रह गई
"ऐंठ थी जी मे बहुत दिन से भरी
आज वह इन आँसुओ में बह गई" ॥

क्या हुआ अन्धेर ऐसा है कहीं
सब गया कुछ भी नहीं अब रह गया
ढूँढ़ते है पर हमे मिलता नहीं
"आँसुओ मे दिल हमारा बह गया" ॥

क्यों नहीं अब और भी रो रो मरे
सब तरफ उनको अँधेरा रह गया
क्या बिचारी डूबती आँखे करे
"तिल तो था ही आँसुओ में बह गया" ॥

पास हो क्यो कान के जाते चले
किस लिए प्यारे कपोलों पर अड़ो
क्यों तुम्हारे सामने रह कर जले
"आँसुओ ! आकर कलेजे पर पड़ो" ॥

आँख का आँसू बनी मूँ पर गिरी
धूलि पर आकर वहीं वह खो गई
"चाह थी जितनी कलेजे में भरी
देखता हूँ आज मिट्टी हो गई" ॥

दिल से निकले अब कपोलों पर चढ़ो
बात बिगड़ी क्या भला बन जायगी

"किस तरह का वह कलेजा है बना
जो किसी के रंज से हिलता नहीं
आँख से आँसू छना तो क्या छना
दर्द का जिस में पता मिलता नहीं" ॥

"वह कलेजा हो कई टुकड़े अभी
नाम सुन कर जो पिघल जाता नहीं
फूट जावे आँख वह जिसमें कभी
प्रेम का आँसू उमड़ आता नहीं" ॥

पाप में होता है सारा दिन बसर
सोच कर यह जी उमड़ आता नहीं
आज भी रोते नहीं हम फूट कर
आँसुओं का तार लग जाता नहीं ॥

"बू बनावट की तनक जिसमें न हो
चाह की छींटे नहीं जिस पर पड़ीं
प्रेम के उन आँसुओं से हे! प्रभो !!
यह हमारी आँख तो भीगी नहीं" ॥

—"मर्यादा" (प्रयाग)
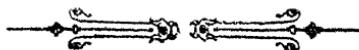
ऐ ! हमारे आँसुओ ! ! आगे बढ़ो
आप की गरमी न यह रह जायगी ॥

"बूंद गिरते देख कर यों मत कहो
आँख तेरी गड़ गई या लड़ गई
जो समझते हो नहीं तो चुप रहो
कंकरी इस आँख मे है पड गई" ॥

देख करके और का होते भला
आँख जो बिनु आग ही यो जल मरे
दूर से आँसू उमड़ कर तो चला
पर उसे कैसे भला ठण्ढा करे ॥

पाप करते है न डरते हैं कभी
चोट इस दिल से कभी खाई नहीं
सोच कर अपनी बुरी करनी सभी
यह हमारी आँख भर आई नही ॥

है हमारे औगुनो की भी न हद
हाय ! गरदन भी उधर फिरती नहीं
देख कर के दूसरो का दुख दरद
आँख से दो बूंद भी गिरती नहीं ॥

प्रेम-पत्र ।

(कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त)

प्रिय सखे ! तव पत्र मिला नहीं,
मम मनोरथ-पुष्प खिला नहीं ।
न तुमको इस का कुछ दोष है,
बस हमीं पर दैविक रोष है ॥१॥

हृदय को हम क्यों कर तोष दें ?
पर तुम्हें किस कारण दोष दे ?
जब स्वयं तुम भूल रहे हमें—
विधि कहाँ अनुकूल रहे हमे ! ॥२॥

निज दशा तुमसे हम क्या कहे;
उचित है, चुपचाप व्यथा सहे ।
वह कथा न कभी लिख पायँगे—
युगयुगान्तर भी चुक जायँगे ॥३॥

प्रणय-पावक नित्य जला करे ;
हृदय-पिण्ड सदैव गला करे ।

पर तुम्हें कुछ भी न खला करे,
कुशल हो! भगवान भला करे! ॥४॥

नयन हैं तुम को मृदु मानते;
कठिन ही पर प्राण बखानते।
अब तुम्हीं कह दो, तुम कौन हो?
पर अहो! अब तो तुम मौन हो!॥५॥

सरस थे लगते तुम तो बड़े,
पर अहो! निकले इतने कड़े!
बस यही यदि था करना तुम्हें;
हृदय था फिर क्या हरना तुम्हें? ॥६॥

तनिक जो तुम नेह निबाहते;
समझते कितना हम चाहते!
पर वृथा अब है यह जल्पना;
मिट गई मन की सब कल्पना!॥७॥

तुम यहाँ सुध लो कि न लो कभी,
उचित उत्तर दो कि न दो कभी।
पर यही कहते हम हैं अहो!
तुम सदैव सहर्ष सुखी रहो॥८॥

(सरस्वती)

प्रेम-पञ्चदशी ।

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय ॥१॥

छिनहि चढ़े छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय ।
अघट प्रेम-पिञ्जर बसे, प्रेम कहावै सोय ॥२॥

प्रेम प्रेम सब कोइ कहै, प्रेम न चीन्है कोय ।
आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोय ॥३॥

जब मैं था तब गुरु नही, अब गुरु हैं हम नाहि ।
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहि ॥४॥

जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान ।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्रान ॥५॥

प्रेम तो ऐसा कीजियो, जैसे चन्द चकोर ।
चीच टूटि भुइँ माँ गिरै, चितवै वाही ओर ॥५।

जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं, तहाँ न बुद्धि व्यौहार ।
प्रेम मगन जब मन भया, कौन गिनै तिथि वार ॥७॥

प्रेम छिपाया ना छिपै, जा घट पर घट होय ।
जो पै मुख बोलै नहीं, नैन देत हैं रोय ॥८॥

पीया चाहे प्रेम-रस, राखा चाहै मान ।
एक म्यान मे दो खड्ग, देखा सुना न कान ॥९॥

कबिरा प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय ।
रोम रोम मे रमि रहा, और अमल क्या खाय ॥१०॥

नैनो की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय ।
पलको की चिक डारी के, पिय को लिया रिझाय ॥११

जल मे बसै कमोदिनी चन्दा बसै अकास ।
जो है जाको भावता सो ताही के पास ॥१२॥

प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय विदेश ।
तन मे मन में नैन में, ताको कौन सँदेस ॥१३॥

उतते कोई न बाहुरा, जाते बूझूँ धाय ।
इतते सब ही जात है, भार लदाय लदाय ॥१४॥

जो आवै तो जाय नहिं, जाय तो आवै नहि ।
अकथ कहानी प्रेम की, समझ लेहु मन माहिं ॥१५॥

—कबीरदास ।

एक बुलबुल की फ़रियाद पिंजड़े में।

(एक पंजाबी पाठ्यपुस्तक से)

आता है याद मुझ को गुज़रा हुआ ज़माना।
वह झाड़ियाँ चमन की वह मेरा आशियाना॥
वह साथ सबके उड़ना वह सैर आसमाँ की।
वह बाग की बहारें वह सब का मिल के गाना॥

पत्तों का टहनियों पर वह झूमना ख़ुशी से।
ठंढी हवा के पीछे वह तालियाँ बजाना॥
लगती है चोट दिल पर आता है याद जिस दम।
शबनम का सुबह आकर फूलों का मुँह धुलाना॥

वह प्यारी प्यारी सूरत वह कामिनी सी मूरत।
आबाद जिसके दम से था मेरा आशियाना॥
आज़ादियाँ कहाँ वह अब अपने घोसलों की।
अपनी ख़ुशी से आना अपनी ख़ुशी से जाना॥

तड़पा रही है मुझको रह रह के याद घर की।
तक़दीर में लिखा था पिंजड़े का आबोदाना॥

इस कैद का इलाही दुखड़ा किसे सुनाऊँ।
डर है यहीं कफ़स में मैं ग़म से मर न जाऊँ॥

क्या बदनसीब हूँ मैं घर को तरस रहा हूँ।
साथी तो हैं वतन मे मैं क़ैद मे पड़ा हूँ॥
आई बहार कलियाँ फूलों को हँस रही हैं।
मै इस अँधेरे घर मे क़िस्मत को रो रहा हूँ॥

बाग़ों मे बसने वाले खुशियाँ मना रहे है।
मैं दिल जला अकेला दुख मे कराहता हूँ॥
आती नही सदायें उनकी मेरे क़फ़स में।
होती मेरी रिहाई ऐ काश! मेरे बस में॥

जी चाहता है मेरा उड़ कर चमन को जाऊँ।
आज़ाद होके बैठूँ और सेर होके गाऊँ॥
बेरी की शाख पर हो फिर इस तरह बसेरा।
उस उजड़े घोंसले को फिर जाके मैं बसाऊँ॥

चुगता फिरूँ चमन में दाने ज़रा ज़रा से।
साथी जो हैं पुराने उनसे मिलूँ मिलाऊँ॥

फिर दिन फिरैं हमारे फिर सैर हो चमन की ।
उड़ते फिरैं खुशी से खाये हवा वतन की ॥

जब से चमन छुटा है यह हाल हो गया है ।
दिल ग़म को खा रहा है ग़म दिल को खा रहा है ॥
गाना इसे समझ कर खुश हो न सुनने वाले ।
दुकड़े हुए दिलों की फ़रियाद यह सदा है ॥

आज़ाद रह के जिसने दिन अपने हों गुज़ारे ।
उसको भला ख़बर क्या ? यह क़ैद क्या बला है ॥
आज़ाद मुझको कर दे ओ क़ैद करने वाले !
"मैं बेज़बाँ हूँ क़ैदी तू छोड़ कर दोआ ले" ॥

(सरस्वती)

"प्रेम ! तू ही है"।

(कवि–पण्डित रामदहिन मिश्र, काव्यतीर्थ)

बिना कुछ यत्न के, बैठे बिठाये, बे परिश्रम ही।
घड़ी भर में घड़ी बिगड़ी, बनाता प्रेम ! तू ही है॥
कहाँ है चाँद औ सूरज, कहाँ पर है कमल कोई।
लगन तो भी ललक करके, लगाता प्रेम ! तू ही है॥
उधर जो रूठ कर ऐंठे, इधर तो फूल कर बैठे।
फटक करके फटे दिल को, जुटाता प्रेम ! तू ही है॥
पराया और अपना मान, करके दूर दम भर में।
बड़े छोटे सभी को सम, बनाता प्रेम ! तू ही है॥
अलग कर भोग से, सुख से, छुड़ाकर लोकलज्जा को।
किसी हित एक को पागल, बनाता प्रेम ! तू ही है॥
करे या मत करे तप, दान, पूजा, पाठ, व्रत, तीरथ।
लगा लौ, पर, परमपद तक, पठाता प्रेम ! तू ही है॥

(धर्माभ्युदय)

आँसू !

(कविवर मैथिलीशरण गुप्त)

नेत्र-गङ्गा में नहा लो मानवो !
पाप तापों को बहा लो मानवो !
आँसुओं का दान करके लोक में—
कारुणीक कृती कहा लो मानवो !॥

अश्रु क्या है, तनिक पहचानो उन्हें;
क्षार जल के बिन्दु मत मानो उन्हें।
स्वर्ग की शुचिता उन्हीं में है यहाँ,
अमृत के अनुभूत कण जानो उन्हें ॥

ताप जब जग का सहा जाता नहीं,
घन बरसते हैं, रहा जाता नहीं।
भूमि होती है तुरन्त हरी भरी,
देख लो, वह सब कहा जाता नहीं॥

देखते हो व्योम-भूषण-सम जिन्हें,
प्रिय नहीं नक्षत्र वे शुचितम किन्हें।

"कुछ कहे उन नैश दीपो को सुधी,
प्रकृति-करुणा-कण कहेगे हम उन्हे ॥

ओस के वे रत्न देखे हैं कभी ?
गोद भरते हैं सुमन जिनसे सभी।
हैं तुम्हारे लोचनों में भी वही,
विश्व के भांडार भर जावें अभी ॥

स्वाति-जल को सीप का मुँह खुल रहा;
और चातक भी उसी पर तुल रहा।
पर तुम्हारे एक ही दृग-बिन्दु से,
देख लो, सब लोक का मुँह धुल रहा! ॥

"उमड़ कर जब प्रभु-पदो तक जायगा,
सुरसरी का रूप लेकर आयगा"।
एक ही उस विमल दृग-जल-बिन्दु में,
मुक्ति होगी, भव-जलधि लय पायगा ॥

हृदय का अभिषेक आँखों से करो,
राजराजेश्वर बनोगे हे नरो!"

यदि न ऐसा कर सके तो कुछ बनो,
कुछ नहीं, जीते रहो चाहे मरो ।।

नष्ट हो त्रैताप लोचन-वृष्टि मे,
दीन क्यों हो मोतियों की सृष्टि में ?
भोगते हैं ईश भी याचक बने,
इस तुम्हारी एक करुणा-दृष्टि मे ! ।।

"नेत्र मुक्ताहार जो पहना नहीं,
पत्थरो की बात मत कहना नहीं"
और तुम यह भी न कहना अन्त मे—
रह गया सब हाय ! यह गहना यहीं ।।

(सरस्वती)

प्रेम की महिमा।

(श्रीमान् छेदालाल जी रचित)

एक रसना से कथा इस प्रेम की क्यों कर कहूँ।
प्रेम से उमगा हिया अब मौन भी कैसे रहूँ॥
"इस अनोखे प्रेम का झण्डा जहाँ पर गड गया।
मन-मतंगों का वहीं मजबूत बन्धन गड़ गया"॥

कल जो लता तनकर खड़ी थी खूब अपने जोश मे।
भूली हुई संसार की बिलकुल नही थी होश मे॥
आज अद्‌भुत प्रेम की पाकर पवन शीतल वही।
'सर्वस्व' देकर वृक्ष की आधीनता मे हो रही॥

कुछ देर पहिले जो चकोरी मौज करती थी सही।
भूली हुई अब तो वही निशिनाथ को मन दे रही॥
मोर जो फूला हुआ था रूप के अभिमान मे।
नाचता है मग्न हो कर बादलो की तान मे॥

जो पतगा चपलता से मग्न था मन मे महा।
वह बिचारा तन-बदन दीपक-शिखा पर दे रहा॥

चंचल चपलता से भरी जो चपल अतिशय मीन है ;
वह प्रेम-वश बिलकुल बिचारी नीर के आधीन है ॥

जो कमल अपनी छटा मे पा रहा था सुख नया ।
पल मे विकल होकर वही रवि के बिना मुरझा गया ॥
चातक बिचारा भी इसी जंजाल मे जकड़ा हुआ ।
सब छोड़ कर केवल तनिक सी बूँद पर अकड़ा हुआ ॥

चौकड़ी सब भूल कर उन्मत्त होकर नाद मे ।
प्राण देता है हिरन इस प्रेम ही के स्वाद मे ॥
इस प्रेम के आगे बड़े बलवान भी झुकते रहे ।
जल पवन पावक इसी के तेज से रुकते रहे ॥

जो मानिनी आमोदमय मद मे मदन के चूर थी ।
आधीनता उसको किसी की कुछ नहीं मंजूर थी ॥
भूली हुई थी जगत को मन के निराले रंग मे ।
मद से भरा मातंग भी उसके न था पासंग मे ॥

छोड़ कर अभिमान को नव नागरी अब तो वही ।
प्रेम के बाजार में बे दाम बिलकुल बिक रही ॥

आधीन होकर प्रेम के उत्साह मे थकती नही ।
'प्रीतम' बिना अब एक पल भी प्राण रख सकती नहीं ॥

'स्वप्न' मे चरचा 'विरह' की जो अगर सुनती कही ।
सूखी लता की भाँति अपने होश मे रहती नही ॥
घण्टों इसी के दर्द मे व्याकुल महा रोती रहे ।
"प्राणप्यारे पर निछावर प्रेम" से होती रहे ॥

"महिमा प्रतापी प्रेम की
कुछ भी कही जाती नहीं ।
'मधुरता' इसकी किसी के
ध्यान में आती नहीं ॥

खोज कर भी प्रेम का
पाता न कोई पार है ।
प्रेम ही सब प्राणियों के
जीव का आधार है" ॥

(लक्ष्मी)

प्रेम विचित्र वस्तु है !

(कविवर पण्डित रामनरेश त्रिपाठी जी)

(१)

प्रेम विचित्र वस्तु है जग मे अद्भुत शक्ति-निधान,
प्रेम मनुज को जागृति मे भी रखता सुप्न समान।
प्रेम-नशा जब छा जाता है आँखो मे भरपूर,
उसी दिवस से समझो उनसे हुई नीद भी दूर॥

(२)

प्रेम एक है पर प्रभाव है उसका युगल प्रकार।
प्रेम सयोग वियोग काल मे सुखप्रद, दुखद अपार॥
मधुर सुगंध विहीन पुष्प ज्यों चन्द्र चन्द्रिका-हीन।
त्यों फीका जग मे मनुष्य का जीवन प्रेम-विहीन॥

(३)

प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेमरूप भगवान।
प्रेम विश्व का संस्थापक है, प्रेम विश्व का प्राण॥
प्रेम जाति का जीवन जग मे, प्रेम अभेद अशोक।
प्रेम सभ्यता का भूषण है, प्रेम हृदय-आलोक॥

(४)

कड़वी सब पीड़ा है उनसे होता चित्त अधीर ,
पर मीठी लगती है जग में सत्य प्रेम की पीर ॥
व्याकुल हुआ प्रेम-पीड़ा से जिसका कभी न प्राण ।
भाग्यहीन उस निष्ठुर का है उर सचमुच पाषाण ॥

(५)

जिस पर दया-दृष्टि करते हैं मंगलमय भगवान ,
सच्ची प्रेम यन्त्रणा से वह पीड़ित होता प्राण ।
जिसने अनुभव किया प्रेम की पीड़ा का आनन्द ,
उससे बढ़ कर कौन जगत में सुखी और स्वच्छन्द ॥

(६)

प्रेमोन्मत्त हृदय में रहता द्वेष न बैर विरोध ,
बसा प्रेम तब निकल भगे सब लोभ मोह मद क्रोध ।
मधुर-प्रेम वेदना-विमोहित सुख निद्रामय मस्त ,
लखता है प्रियतम छबि दृग भर फिर कर जगत समस्त ॥

(७)

फूल पंखड़ी में पल्लव मे प्रियतम रूप निहार ।
तुरत उमड़ आता है उसके उर में मोद अपार ॥
कली बिलोक मुसकुरा उठता करके मत्त प्रलाप ।
"देखें कब तक इन पत्तों में लुके रहेंगे आप" ॥

(८)

ज्योत्स्ना कभी सरित जल मे मिल करती केलि विलास ।
उज्ज्वल विमल रजत कणिकामय रेतराशि पर वास ॥
प्रेम भरे अधखुले दृगो से लख शशि ओर सहास ।
प्रेमी समझ मुग्ध होता है प्रियतम-हास-विकास ॥

(९)

उसे प्रेममय लख पड़ता है यह समस्त संसार ।
प्रेम मग्न करता है वह नित प्रेमोद्यान-विहार ॥
प्रेम-वेदना-व्यथित हृदय से मथित प्रेम की आह ।
कढ़ कर भूतल मे भरती है नवजीवन-उत्साह ॥

—(मिलन)

"सच्चा प्रेम"।

सच्चा प्रेम वही कहलाता जो स्वाभाविक होता है,
जिसे न छू पाती कृत्रिमता जो न कपट का सोता है।
ऐसे रम्य प्रेम का झरना जिस गृह में प्रतिदिन बहता,
वह गृह फिर अनुपम वैभव से स्वर्ग धरा सा लह उठता।

❦

पर ऐसे स्वर्गीय प्रेम का निर्मल झरना कभी कहीं,
विषय-वासना के दुरूह पर्वत से टकरा जाय नहीं।
इसके लिये सदा तुम रहना सावधान मेरा उपदेश,
यदि इसके प्रतिकूल करोगे तो भोगोगे दुष्कर क्लेश।

—प्रेमी (वनवासिनी)

विकसित कुसुम ।

(कविवर पं० रूपनारायण पाण्डेय "कमलाकर")

अहो ! कुसुम कमनीय !! कहो क्यों
फूले नहीं समाते हो।
कुछ विचित्र ही रङ्ग दिखाते
मन्द मन्द मुसुकाते हो ?

हम भी तो कुछ सुनें किस लिये
इतना है उल्लास तुम्हे ?
बात बात में खिल खिल कर तुम
किसकी हँसी उड़ाते हो ?

कैसी हवा लगी यह तुमको
क्षणिक विभव में भूलो मत
अभी सवेरा है कुछ सोचो
अवसर व्यर्थ गँवाते हो ।

रूप रङ्ग रस जिस के बल पर
पैर न भू पर तुम रखते

है दम भर का दृश्य जगत में
क्यों इतना इतराते हो ?

भौंरा रसिक पास आ आ कर
करता है प्रार्थना अगर
तो क्यों नहीं प्रेम से मिल कर
अपना उसे बनाते हो ।

भौंरा काला है कुरूप है
हम हैं सुन्दर मत समझो
उस वसंत का है यह साथी
जिस के तुम कहलाते हो ।

कर उपभोग और सब तुम को
इधर उधर रख देते हैं
पर यह सिर धुनता है जब तुम
दले मले कुम्हलाते हो ।

कोमल हूँ कमनीय कलेवर
देवों के मन भाया हूँ

रसिकों का श्रृंगार सहज हूँ
यह जो मन में लाते हो।

रसिक और रसिकाएँ तुझको
आदर से अपनावेंगी
बना गले का हार रहूँगा
यही सोच इतराते हो।

तो इस पर भी तुम्हे फूलना
या इतराज उचित नहीं
धन्यवाद दो झुक कर उसको
जिसका रूप दिखाते हो।

(सरस्वती।)
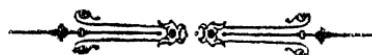
"प्रेम" ।

(कवि—पं० माधव शुक्ल)

प्रेम ज्यो सागर बिच तूफ़ान ।
उठत कबहुँ गिरि जात छिनहि कहुँ
जैसे लहर महान ।
बरबस बल कर खैच बहावत
प्रेमी जन को प्रान ॥ प्रेम ज्यों०

कहँ बहाय लैजै है मन कहँ
कछुक परत नहिं जान ।
कबहुँ भँवर सम चकरावत है
जिन्हें प्रेम की बान ॥ प्रेम ज्यों०

हाँफ उठत कहुँ डूबन लागत
भाजत तज हिय ज्ञान ।
रहन देत पग थिर न एक छिन
प्रेम महा बलवान ॥ प्रेम ज्यों०

—(भारतगीताञ्जलि)
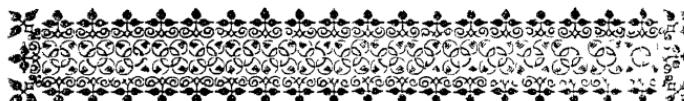
प्रेम का अद्भुत व्यवहार !

अद्भुत प्रेम को व्यवहार !
प्रेम किये नर परवश होवै पर पै निज अधिकार ॥
प्रेम लिये नहि बिगरत कछु है दिये नाहि संहार ।
प्रेमहि सों रवि शशी उगत है फूलत फूल हजार ॥
पौन चलत, प्रेमहि को गावत, पंछी जयजयकार ।
नभ सो सागर मिलत और नभ सागर मिलत अपार ॥
प्रेमहि सो पत्थर हू पिघलत बहति नदी की धार ।
सरग लोक पृथिवी पै आवत पृथी जात सुर द्वार ॥
प्रेम गीत गूँजत नभ, छायी प्रेम किरन संसार ।
प्रेमी बनहुँ वेगि अब प्यारे प्रेम जगत को सार ॥

—कविवर प० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी (मय्यांदा)

प्रेम ।

है कौन सा वह तत्त्व जो सारे भुवन में व्याप्त है,
ब्रह्माण्ड पूरा भी नहीं जिसके लिये पर्याप्त है ?
है कौन सी वह शक्ति, क्यों जी ! कौन सा वह भेद है ?
बस, ध्यान ही जिसका मिटाता आपका सब शोक है ।

वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है ।
है अचल जिसकी मूर्ति, हाँ-हाँ, अटल जिसका नेम है ।

बिछुड़े हुओं का हृदय कैसे एक रहता है, अहो !
वे कौन से आधार के बल कष्ट सहते हैं, कहो ?
क्या क्लेश ? कैसा दुःख ? सबको धैर्य्य वे सह रहे,
है डूबने का भय न कुछ, आनन्द में वे बह रहे ।
वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है ।

क्या हेतु, जो मकरंद पर हैं भ्रमर मोहित हो रहे ?
क्यों भूल अपने को रहे, क्यों सभी सुधि-बुधि खो रहे ?

किस ज्योति पर निश्शंक हृदय पतङ्ग लालायित हुए?
जाते शिखा की ओर, यों निज नाश-हित प्रस्तुत हुए?
वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है।

आकाश में, जल मे, हवा में, विपिन मे, क्या बाग मे
घर मे, हृदय मे, गाँव मे, तरु मे तथैव तड़ाग मे,
है कौन सी वह शक्ति, जो है एक सी रहती सदा,
जो है जुदा करके मिलाती, मिला कर करती जुदा?"
वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है।

"चैतन्य को जड़ कर दिया, जड़ को किया चैतन्य है,
बस, प्रेम की अद्भुत अलौकिक उस प्रभा को धन्य है।"
क्यों, कौन सा है वह नियम, जिससे कि चालित है मही?
वह तो वही है, जो सदा ही दीखता है सब कही।
वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है।

यह देखिये, घनघोर कैसा शोर आज मचा रहा।
सब प्राणियो के मत्त मनोमयूर अहा! नचा रहा॥
ये बूँद है या क्या! कि जो यह है यहाँ बरषा रहा?
सारी मही को क्यों भला इस भांति है हरषा रहा?
वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है।

यह वायु चलती वेग से, ये देखिये तरुवर झुके।
है आप अपनी पत्तियो मे हर्ष से जाते लुके।
क्यो शोर करती है नदी, हो भीत परावार से ?
वह जा रही उस ओर क्यों ? एकान्त सारी धार से ?
वह प्रेम है, वह प्रेम है वह प्रेम है, वह प्रेम है।

यह देखिये, अरविन्द से शिशुवृन्द कैसे सो रहे।
हैं नेत्र माता के इन्हें लख तृप्त कैसे हो रहे
क्या खेलना, सोना, रुदन करना, विहँसना आदि सब
देता अपरिमित हर्ष उसको, देखरी वह इन्हे जब ?
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है।

है वायु से यह बेल हिलती, बेल से फल हिल रहे,
हैं इन फलों के साथ हिलते, फूल कैसे खिल रहे।
सब एक होकर नाचते हैं, पच्छियों के गान पर।
कैसा प्रमोद मना रहे, संसार सुखमय मान कर॥
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है।

उस दूरवर्ती खेत में वे गाय कैसी चर रही,
ये बछड़िया हैं कूद कूद कलोल कैसी कर रही।

इस नीम के नीचे पड़ा यह ग्वालिया है गा रहा ।
कैसा यहाँ अपनी अनोखी मधुर तान सुना रहा ॥
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है ।

"गाते हुए हल जोतते, सन्तोष सुख से जो सने,
वे खेतिहर हैं, आप अपने खेत के राजा बने ।
हैं दीन, तो भी क्या हुआ, सौजन्य-श्री-सम्पन्न हैं ।
भूखे रहे खुद आप पर देते सबों को अन्न है।"
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है ।

रण-भूमि का तो देखिये, ये वीर कैसे डट रहे ।
कर 'आत्मत्याग' स्वदेश के हित खेत बन कर कट रहे,
इन का पराक्रम, शौर्य्य अनुकरणीय होगा, लोक मे।
आह्लादकारी हर्ष मे हाँ धैर्य्यदायी शोक मे—
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है ।

इस प्रेम के ही हाथ से
गरदन हजारों कट गई,
हाँ, छातियाँ आघात के ही
बिन हजारों फट गईं ।

है कौन पा सकता भला इस प्रेमनद का पार है ?
है कौन वह, जो रत्न खोजे, विकट इसकी धार है ?

यह व्याप्त है सब मे, अजी यह सभी का आधार है।
यह स्वयं जड़, चेतन, सगुण, निर्गुण सभीका सार है ।।
पाठक महोदय ! अधिक क्या, यह स्वर्ग-सुख का द्वार है।
जगदीशयमय है प्रेम निश्चय, प्रेममय संसार है ।।

इस दीन भारत में कहीं जो
प्रेम का संचार हो,
तो फिर भला क्या पूछना
सब भाँति बेडा पार हो ।

है मोह-रात्रि यहाँ कहीं
जो प्रेम का दीपक जले,
तो कृष्ण जी की दिव्य छबि
वह देखने को फिर मिले ।"

अज्ञान-कंस विनष्ट हो, जब ज्ञान रूप रमेश से,
तब प्रेम से बँध जायँ हम, पीछा छुटे इस क्लेश से ।
है पूर्व मे यह दीखती, टुक देखना, कैसी प्रभा ?
हाँ-हाँ, प्रभा ही है, विनिद्रित जग उठी दिनकर-सभा ।।

—विश्वव्याप्त (प्रभा)

प्रेम की अद्भुत डोरी !

(कवि-मण्डली-मण्डन स्वर्गीय "पूर्ण" कवि कृत)

अद्भुत डोरी प्रेम की जा मे बाँधे दोय।
ज्यो ज्यो दूर सिधारिये त्यो त्यो लाँबी होय ॥
त्यो त्यो लाँबी होय, अधिकतर राखै कसिकै।
नेह न्यून ह्वै सकत नेकु नहि दूरहु बसि कै ॥
बिधिना देत बिछोह कहूँ तासो करजोरी।
रखियो छेम समेत प्रेम की अद्भुत डोरी ॥१॥

⚜ ⚜ ⚜ ⚜

प्रेम सुमग मे परि गयो विरह-सिन्धु गम्भीर।
नाव दया है रावरी पहुँचावन को तीर ॥
पहुँचावन को तीर तुमहि समरथ सुखरासी।
मै अबला बिन वित्त बिना दामन की दासी ॥
मेरो है न अधार दूसरो तुम बिन जग मे।
दीजौ तातें साथ प्रानपति प्रेम सुमग में ॥२॥

प्यारे कमल ! ने हो ऐसे कठिन कहो क्यों ?
पाकर विकाश वैभव भीतर मलिन रहो क्यों ?
इस रूप रङ्ग पर हाँ फूले नहीं समाते ।
सुनते न दूसरे की अपनी नहीं सुनाते ॥

मानां कि तुम हो अनुपम तुम सा न दूसरा है ।
सौंदर्य्य और रस भी हर अङ्ग मे भरा है ॥
लेकिन नहीं है जब तक उपभोग करने वाला ।
तुम सा मधुर रसीला नागर नया निराला ॥

तब तक सभी वृथा है कुछ भी मजा नहीं है ।
सम्पत्ति सूम की ज्यो रक्खी हुई कहीं है ॥
बादल न हो तो बिजली शोभा कहाँ से पावे ?
है जौहरी न तो मणि आभा किसे दिखावे ?

हाँ हो चकोर को जो चाहत न चंद्रमा की
तो कौन फिर बढ़ावे महिमा सुपूर्णिमा की ?
अथवा वसंत का जो सत्सङ्ग हो न जावे
छवि कौन फिर लता की लालित्य दे बढ़ावे ?

हाँ मित्र सूर्य्य से हैं इस पर मगर न भूलो
उनके विशाल वैभव को देख कर न भूलो
वैभव समस्त उनका दिन भर में अस्त होगा
तब मस्त प्रेम से यह मधुकर ही व्यस्त होगा ॥

"फिर सूर्य्य तो तुम्हारे मतलब के यार है बस,
जब तक खिले रहोगे जब तक रहेगा कुछ रस ।
तब तक तुम्हारे ऊपर उनकी रहेगी छाया
आवेगी रात जब तब चल देंगे छोड़ माया" ॥

"मधुकर मगर रहेगा साथी सदा तुम्हारा ।
दे देगा जान भी पर होगा कभी न न्यारा" ।
'है दूर से तुम्हारी पा कर सुगंध आया' ।
तुम से मगर न इसने आदर जरा भी पाया ॥
तब भी अहो ! तुम्हारी करता बड़ी बड़ाई
तुम को भी अब उचित है ऐसी नही कड़ाई

खुल कर खिलो मिलो भी
यह सोच किस लिये है ?
चाहे जो उसको चाहो
संकोच किस लिये है ? ॥

—"कवि कमलाकर" (सरस्वती)

"प्रेमालाप"।

(श्री पण्डित रामप्रसाद शर्मा)

(१)

अहो प्रेम-वर ! यही भारती भारत बीच सुनाने दे,
भावी सन्तति के हित-साधक सुन्दर भाव सजाने दे।
श्रवण, नेत्र, कर, पद से प्रियवर ! निज निज कर्म कराने दे,
और मानसिक जीवन-धन को सत्य हेतु मर जाने दे।

(२)

शान्ति-सौख्ययुत प्रेम-भाव से अपना हाथ बढ़ाने दे,
प्रेम-अश्रु का सुन्दर झरना एक बार झर जाने दे।
घूम रहा मन-भौंरा मेरा शुभ कृतियों पर आने दे,
वही अन्त सुखदायी होगी, शान्ति-सुधा-रस पाने दे॥

(३)

राष्ट्र, जाति अरु देश-प्रेम के सरस गीत बस गाने दे,
पामर कायर लोभी जन को बार बार ललचाने दे।
असत्कार्य्य-उत्तेजक बल को यों ही मुरझा जाने दे,
'अहं' भाव का नाश सदा तक धराधाम पहुँचाने दे।

(४)

दुष्ट जनों की चिकनी चुपड़ी बातों से हट जाने दे,
मातृ-भूमि की सेवा के हित वीरों को उठ जाने दे ।
तन, मन, धन से उत्कण्ठा से मन की जलन बुझाने दे,
विषयासक्त कुटिल मन को तू एक बार सुलझाने दे ।

(५)

गति विचित्र है काल अनोखा असि "सुरेश" कर लेने दे,
शस्य-श्यामला भारत-भू पर यह तन बलि कर लेने दे ।
उसके प्यारे पुत्रो से अब गले भेट मिल लेने दे,
सदय जनो के दिव्य भाल पर प्रेम-रेणु मल लेने दे ॥

(६)

श्रम-संजात शक्ति से सहसा मानस विमल बनाने दे,
प्रेम-वारि से प्रेम विवश हो विश्व-प्रेम दिखलाने दे ।
यत्र तत्र सर्वत्र मही पर हो स्वच्छन्द विचरने दे,
विश्व-प्रेम की ध्वजा विजयिनी नभमण्डल पर उड़ने दे ॥

(छात्रमहोदय)

प्रेम ।

(कविवर गोपालशरणसिंह जी)

बन जाओ तुम प्रेम ! हमारे मंजु गले का हार ।
तन, धन, जीवन जो कुछ चाहो दें हम तुम पर वार ।
तुम को पाकर क्यों न भला हम हो जावेंगे धन्य ?
सच कहते हैं, तुम्हें मानते हम जीवन का सार ॥

जो जी में आवे सो देना सदा रहेंगे तुष्ट ;
माँगेंगे हम कभी न तुम से कोई भी उपहार ।
जहाँ हमारे हृदय-धाम में हुआ तुम्हारा वास ;
तहाँ शीघ्र हम हो जावेंगे निश्चय बन्धु उदार ॥

मानस पङ्कज विकसाने को तुम हो सूर्य्य-समान ;
क्यों न करोगे हमें भला फिर हर्षोत्फुल्ल अपार ;
सभी संकुचित भाव हमारे कर दोगे तुम दूर ;
बन्धु-समान हमें प्रिय होगा यह सारा संसार ॥

स्वार्थ, कपट, ईर्षा का मन मे नहीं रहेगा लेश ;
उन्हें बहा देवेगी पावन विमल तुम्हारी धार ।
क्रोध, विरोध, मोह, मद, मत्सर, लोभ, क्षोभ, अभिमान;
सभी तुम्हारे प्रबल अनल में होगे जल कर छार ॥

⚜

हम न करेंगे कभी भूल कर अपने मन का काम ;
तुम्हें हमारे ऊपर होगा प्रेम ! पूर्ण अधिकार ।
अहो ! तुम्हारे लिये कष्ट का सहना भी सुखमूल ;
है वास्तव में प्रेम ! तुम्हारी महिमा अपरम्पार ॥

प्रेममय मिलन ।

है पलक परदे खिंचे वरुणी मधुर आधार से ।
अश्रु-मुक्ता की लगी झालर खुले दृग द्वार से ।।
चित्त-मन्दिर मे अमल आलोक कैसा हो रहा !
पुतलियाँ प्रहरी बनी जो सौम्य है आकार से ।।

❧ ❧ ❧ ❧
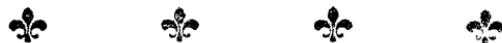
मुद-मृदङ्ग मनोज्ञ स्वर से बज रहा है ताल में ।
कल्पना-वीणा बजी हर एक अपने ताल से ।।
इन्द्रियाँ दासी सदृश अपनी जगह पर स्तब्ध है ।
मिल रहा 'गृहपति' सदृश यह प्राण प्राणाधार से ।।

—श्री जयशंकर प्रसाद (इन्दु)

प्रेम-सप्तक ।

लेहु न मजनू गोर ढिग, कोऊ लै लै नाम ।
दरदवन्त को नेकु तौ, लैन देहु विश्राम ॥१॥
चसमन चसमा प्रेम को, पहिले लेहु लगाइ ।
सुन्दर मुख वह मीत को, तब अवलोको जाइ ॥२॥
अद्भुत गति यह प्रेम की बैनन कही न जाय ।
दरस भूख लागे दृगन भूखहि देत भगाय ॥३॥
प्रेम नगर में दृग बया नोखे प्रगटे आइ ।
दो मन को करि एक मन भाव देत ठहराइ ॥४॥
न्यारो पैंड़ो प्रेम को सहसा धरौ न पाव ।
सिर के पैंड़े फावते चलौ जाय तौ जाव ॥५॥
अद्भुत गति यहि प्रेम की लखौ सनेही आइ ।
जुरै कहूँ, टूटै कहूँ, कहूँ गाँठ परि जाइ ॥६॥
अद्भुत बात सनेह की, सुनौ सनेही आइ ।
जाकी सुधि आवै हिये सबही सुध बुध जाइ ॥७॥

—"रसनिधि" ।
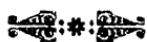
प्रेम ।

(कविवर श्री हरिपालसिंह जी)

सिद्ध योगीन्द्र लाते जिन्हे ध्यान में,
वेद-वेत्ता लखे साम के गान में।
नित्यनेमी टटोला करे नेम मे;
पूर्ण प्रेमी लहे, मग्न हो, प्रेम में ॥

*

जो सदा भावुकों में समाने रहें,
भाव, विश्वास के रंग साने रहें।
भक्त से जो नहीं नेक न्यारे रहें;
सो सदा कृष्ण प्यारे हमारे रहें ॥

*

नेम से, साधनों से किनारा रहे,
पुष्ट हो, प्रेम ही का सहारा रहे।
दूर पाखण्ड मोहादि सारा रहे;
तो न क्यों श्याम को भक्त प्यारा रहे ॥

*

लोक में साधनों का यही हेतु है,
सिन्धु संसार का एक ही सेतु है।

प्रेम ही यज्ञ है, प्रेम ही दान है ;
प्रेम ही ध्यान है, प्रेम ही गान है ॥

*

धर्म्म दाम्पत्य का शुद्ध शृङ्गार है ,
लोक-व्यवहार का एक आधार है ।
सत्य का स्रोत है, ज्ञान का रूप है ;
श्रेष्ठ सारे सुखों का यही भूप है ॥

*

विज्ञ वेदान्तियो का सहारा यही ,
योगियो का महामित्र, प्यारा यही ।
नित्य नैयायिको मे धँसा है यही ;
चाह मीमांसको मे बसा है यही ॥

*

तर्क शास्त्री जिसे तर्क से तोलते ,
सांख्य वाले जिसे सांख्य में घोलते ।
वैष्णवों का बना है विधाता यही ;
शैव शाक्तादि का मुक्तिदाता यही ॥

*

नेक भी जो किसीसे किनारा करे ,
तो न क्यो बन्द व्यौहार सारा करे ।

प्रेम ही हो न तो कौन सा काम हो ?
नित्य ही विश्व में घोर संग्राम हो ॥

*

प्रेम के नाश का जो बना अंग हो,
सो न क्यों भ्रष्ट हो ? क्यों न बेढंग हो।
वैर से जो बनों को बिगाड़ा चहे ;
सो न क्यों आपदा का अखाड़ा रहे ? ॥

*

भाइयो ! प्रेम का सिन्धु गम्भीर है,
तीर है ही नहीं, भाव का नीर है।
"डूब जाना यहाँ पार जाना गिनो।
पार जाना, वृथा डूब जाना गिनो" ॥

*

प्रेम का जोश है, प्रेम का कोष है ;
पूर्ण देवी, यहीं पूर्ण निर्दोष है।
प्रेम से भाव, भाषा तथा भेष है ;
प्रेम ही से हमारा अजी देश है ॥

*

आइये, वक्ष से वक्ष दे के मिलें,
कञ्ज के पुष्प से पूर्ण खेले खिलें।

दूर हो जाय सारी व्यथा मोह की,
भावना नाश होवे दगा-द्रोह की ॥

※

"मेल का बीज सर्वत्र बोते रहो;"
नित्य रोना किसी का न रोया करो।
"बन्धु हैं हिन्द के पूज्य हिन्दू सभी"
"वैर या फूट आने न पावे कभी" ॥

※

"राधिकानाथ की भक्ति जी में धरें,
सत्यप्रेमी बने, पैज पूरी करे।
प्रेम का प्रेमियों में पसारा रहे।
अश्रुधारा मिली प्रेम-धारा बहे।

※

एकता के सभी गीत गाते चलें;
प्रेम के रंग में मत्त राते चलें।
सिद्धियों पै पदों को बढ़ाते चलें,
जीत की यों पताका उड़ाते चलें ॥

(प्रभा, खण्डवा)

प्रेम-मंत्र ।

(कविवर लाला भगवानदीन जी)

चढ़ पहाड़ पर यही पुकारो ।
मैदानों मे यही उचारो ।
"घृणा द्वेष सब दूर धरेंगे ।
सबसे मिल मिल प्रेम करेंगे ॥"

प्रेम फौज का साज सजा कर ।
प्रेम दुन्दुभी मधुर बजा कर ।
सहमत हो सब काम करेंगे ।
भारत में आनन्द भरेंगे ॥

दिन में निशि में सभी समय में ।
मस्तक में औ मृदुल हृदय मे ।
यह विचार मित्रों के भरना ।
"पारस्परिक द्वेष परिहरना ॥"

"द्वेषभाव में आग लगा कर।
　　झूठ और अन्याय भगा कर।"
"सब पर प्रेम वारि ढारेंगे।
　　भारत के सुकार्य सारेंगे॥"

जल मे थल मे और पवन मे।
　　हिन्दूगण मे और यवन मे।
फैला दो विचार शुभ ऐसा।
　　"हम मे तुम में अन्तर कैसा?

"भाई है घर एक हमारा।
　　भाई बन कर करो गुजारा।"
"तब सब के सब काम सरेंगे।
　　भारत मे सुख-चैन भरेंगे।

लोभ-क्रोध को मार भगाओ।
　　वैर वाद में आग लगाओ।
प्रेम राज्य जग में फैलाओ।
　　प्रेम प्रेम की धूम मचाओ॥

भारत का जो भला विचारो।
यह सिद्धान्त हृदय में धारो।
"प्रेम-मन्त्र जिसने मन धारा।
उसने विजय किया जग सारा।"

प्रेम-रज्जु सिंहों को बाँधे।
प्रेम-मन्त्र सब कारज साधे।
प्रेम-आँच पत्थर पिघलावे।
प्रेम-वायु ब्रह्मांड हिलावे॥

प्रेम-चोट हीरे को फोड़े।
प्रेम-गोंद टूटे को जोड़े।
हिन्दु, मुसलमान, ईसाई।
चखो परस्पर प्रेम-मिठाई॥

—(मनोरंजन, आरा)

प्रेम !

क्यों पीड़ा देने को विधि ने रचा प्रेम निधि है निश्चल ?
इतना कोमल कर के फिर क्यों किया कण्टकित फुल्ल कमल ?
डूबे प्रथम अनल-जल में तब मिलता प्रेम रत्न निर्मल,
कहीं मृत्यु-फल फलता उससे कहीं कलंक-लाभ केवल !
प्रेम दूर से ही सुन्दर है यथा चञ्चला लोक चपल।
दर्शन में जो अति अनुपम है स्पर्शन में है दीप्तानल ॥
जीवन-कानन में मरीचिका मोहमयी है महा प्रबल।
अहो ! यहाँ जो प्रेम चाहता वह चाहता उपल में जल ॥
आज प्रेम जो पान करेगा हाय ! जान कर सुधा सरल।
कल विरहानल में पावेगा उसे अश्रु-जल और गरल !॥

—"मधुप" (सरस्वती)

प्रेम-प्रशस्ति ।

प्रेम है क्या वस्तु, यह कोई बता सकता नहीं।
है अनिर्वचनीय सुख, कोई जता सकता नहीं ॥
प्रेम मानव-धर्म है, सत्कर्म—सद्व्यवहार है ।
प्रेम, प्यारा पतित-पावन शान्ति का आधार है ॥

प्रेम है वेदान्त का सिद्धान्त, सिद्ध विचार से।
शुद्ध होता है हृदय सत्प्रेम के सञ्चार से ॥
प्रेम का क्या मर्म है, सो सब समझ सकते नहीं।
प्रेम मिलता भी नहीं है सब समय या सब कहीं ॥

मग्न रहते हैं सदा जो प्रेम-पारावार में।
है उन्हे कोई नहीं सन्ताप इस संसार में ॥
प्रेम है स्वर्गीय भाव, प्रभाव इसका है बड़ा।
प्रेम के अनुगत सदा आनन्द आगे है खड़ा ॥

प्रेम की बाते निराली देख पड़ती हैं सभी।
प्रेम-बन्धन कष्ट-कारण हो नहीं सकता कभी ॥

प्रेम अक्षय है, अभय है, प्रेम आदरणीय है।
प्रेम योग, वियोग, तप, संयोग-फल कमनीय है ॥

प्रेम

शुद्ध सात्त्विक लोक-पावन प्रेम सच्चा है जहाँ।
हाँ, वहाँ फिर स्वार्थपरता छल-कपट-कौशल कहाँ ॥
प्रेम-पथ के प्रिय पथिक संसार-हित करते रहे।
संकटों का सामना साहस सहित करते रहें ॥

प्रेम

प्रेम का बदला, नहीं संसार की सम्पत्ति है।
प्रेम ही से प्रेम की होती अधिक प्रतिपत्ति है ॥
प्रेम-धन पाकर अकिञ्चन भी सुखी स्वाधीन है।
प्रेम-धन-वञ्चित पुरन्दर हीन से भी हीन है ॥

प्रेम

मोम पत्थर को करे इस प्रेम में वह शक्ति है।
शत्रु भी हो मित्र, जो कुछ भावना की भक्ति है ॥
हो सके सम्भव असम्भव प्रेम-कार्य-कलाप से।
हाँ, अयोग्य सुयोग्य बनता प्रेम-पुण्य-प्रताप से ॥

प्रेम

पड़ प्रलोभन में अहो प्रेमी भटकते हैं नहीं।
हाय हाय मचाय हरदम सिर पटकते हैं नहीं ॥

सब प्रकार विकार से बच कर भला करते रहें।
तत्त्वदर्शी दूसरों के वास्ते मरते रहे ॥

प्रेम ही सौन्दर्य है, सौन्दर्य ही बस स्वर्ग है।
देव-दुर्लभ प्रेम ही से प्राप्य पद अपवर्ग है ॥
प्रेम-हीन हृदय अहो सचमुच उजाड़ मसान है।
प्रेम जिसमे है नहीं प्रत्यक्ष वह शैतान है ॥

प्रेम-पण्डित ही प्रकृत 'अद्वैत' को है जानता।
ईश को संसार मे सर्वत्र सब मे मानता ॥
है न उसके चित्त में हिंसा-प्रवृत्ति बलीयसी।
है उसे सब ही जगह विश्वेश की वाराणसी ॥

प्रेम के अधिकार में उलटा नियम देखा गया।
है अहो परतन्त्रता मे पूर्ण सुख लेखा गया ॥
सौंप कर सर्वस्व प्रिय को, आप ख़ाली हाथ हैं।
दूरही से देख कर गद्गद-प्रसन्न-सनाथ हैं ॥

प्रेम ही ऐश्वर्य आत्मा का, अलौकिक रत्न है।
प्रेम ईश्वर-प्राप्ति का उत्तम सहजतम यत्न है ॥

बुद्ध, ईसा और प्रभु गौराङ्ग प्रेमाचार्य थे ।
लोक के आदर्श उनके लोक-प्रिय सत्कार्य थे ॥

प्रेम नीरव साधना आराधना का पन्थ है ।
प्रेम गूढ़ गम्भीर तत्त्वों से भरा सद्ग्रन्थ है ॥
प्रेम के साहित्य में भाषा नहीं है, भाव है ।
भावना ही प्रेमियों का स्वयंसिद्ध स्वभाव है ॥

किन्तु, देखो जिस जगह के प्रेम मे कुछ स्वार्थ है ।
जान लो, वह है बनिज, उसमे न प्रेम यथार्थ है ॥
दूकानदारी पर भरोसा भूल कर करना नहीं ।
मतलबी है मित्र लाखों, मुग्ध हो मरना नहीं ॥

स्वार्थ-कलुषित प्रेम इन्द्रिय-लालसा की पूर्त्ति है ।
है असल की वह नकल, उसमे न कल न स्फूर्ति है ॥
जाल है वह दण्ड-लायक स्वार्थियों की 'चाल' है ।
चातुरों में चल न सकना, क्योंकि खोटा माल है ॥

प्रेम है सोना खरा, ताँबा तमोगुण की कला ।
मेल मे यह 'मेज़' होना है नहीं बिल्कुल भला ॥

आँच लगने से ज़रा यह रङ्ग रहने का नहीं।
अन्त को खोटे खरे का संग रहने का नहीं॥

सुर-असुर में और सुरभी-श्वान मे जो भेद है।
कल्पतरु-तृण, ज्ञान औ अज्ञान में जो भेद है॥
नेक-बद मे और काञ्चन-काच मे जो भेद है।
प्रेम मे त्यों आत्मसुख की चाह मे सो भेद है॥

सत्य, शिव, सुन्दर सदा प्रिय प्रेम प्रभु का रूप है।
और मतलब गाँठने की चाह अन्धा कूप है॥
प्रेम मे आभास भी अश्लील बातों का नहीं।
नाम भी स्वार्थी जनो की घोर घातो का नहीं॥

कर्मयोगी प्रेमियों को कर्म ही की चाह है।
कष्ट हों लाखों, मगर इसकी न कुछ परवाह है॥
प्रेम-काञ्चन की कसौटी दुःख संकट कष्ट है।
खूब कस कर देख लो, बस यह परीक्षा स्पष्ट है॥

फूल मलने ही से मिलता अति सुगन्धित इत्र है।
अगुरु जलने ही से फैलाता सुगन्ध पवित्र है॥

खूब पत्थर पर रगड़ने ही से चन्दन भी तथा ।
सुष्ठु सौरभ दान करता और हरता है व्यथा ॥

इस तरह जब जीव भी आपत्ति-पावक में पड़े ।
मलरहित हो छोड़ छल सहता अनेकों दुख कड़े ॥
प्रेम परमानन्दमय दृढ़ सिद्ध होता है तभी ।
तुच्छ तृण-सम जान पड़ते हैं जगत के सुख सभी ॥

अन्ध-तम से जिस तरह हीरा दमकता खूब है ;
नील नभ मे चन्द्रमा जैसे चमकता खूब है ॥
रात ही में दीप की जैसे रहे रमणीयता ।
कष्ट ही मे प्रेम की वैसे बढ़े कमनीयता ॥

प्रेम है पर्वत-सदृश सुस्थिर, कभी टलता नहीं ।
इन प्रकृत की टक्करों का ज़ोर कुछ चलता नहीं ॥
प्रेम, जो सूखे नहीं ऐसी अलौकिक झील है ।
काल-गति के तुल्य हरदम प्रेम वर्द्धन-शील है ॥

प्रेम की पुस्तक न पूरी कर सके कवि भूमि का ।
यह बहुत संक्षेप में लिख दी गई है भूमिका ॥

प्रेम को प्रत्यक्ष पाओगे स्वयं सद्बुद्धि से
विश्व को पावन बनाओगे हृदय की शुद्धि से ॥

卐

प्रेम-परिचय के लिये ही यह प्रबन्ध निहारिये ।
प्रेम ऐसा कीजिये जिसमें न बाज़ी हारिये ॥
प्रेम से उपकार होगा आपका त्यों देश का ।
प्रेम से दर्शन मिलेगा आपको परमेश का ॥

—कविवर कमलाकर (सरस्वती)

प्रेम !

("प्रेम-पथिक" पण्डित ईश्वरीप्रसाद जी शर्मा)

हे प्रेम ! सच बता दे, किस स्वर्ग से तू आया ?
प्रेमी के हेतु तूने नूतन जगत् बनाया ॥
है रीति प्रेमियों की सारे जगत् से न्यारी ।
ऐसा सु-राग गाकर तूने उन्हें लुभाया ॥
नेत्रों मे उनके आभा तेरी विराजती है ।
सब को है तूने उनका अपना सगा बनाया ॥
हर वस्तु मे निरखते वह प्रेमपात्र अपना ।
जिस ओर दृष्टि डाली उसको ही देख पाया ॥
वन वापिका सरों मे पत्थर की मूर्तियो मे ।
सूरत उसी की देखी, जलवा उसीका पाया ॥
वह मोहनी है डाली सुध बुध सभी भुलाई ।
प्रेमी ने दुख को सुख से अपने गले लगाया ॥
दुख दूर भाग जाते ज्वाला शमित है होती ।
मोती सा आँसू नयनों से उसने जब गिराया ॥
रोना है उसको प्यारा हँसने से दूर रहता ।
अपने हृदय के धन को रोकर ही उसने पाया ॥

—(धर्माभ्युदय)

प्रेम-प्याला।

(प्रेमी गोपीचन्दलाल गुप्त)

पी लो प्यारे है लबालब प्रेम का प्याला भरा।
द्वेष मत्सर ईर्षा और फूट का चखना धरा॥
है ज़रा तलखी मगर वह भी है लज्जत से भरी।
मुँह न बिचकाना कभी प्यारे उसीमें हरियरी॥

हो मज़ा मालूम जब चढ़ जायगा इसका नशा।
रङ्ग दिखलावेगा क्या क्या भूल के तन की दशा॥
दीन दुनियाँ का न ग़म, बेफिक्र हो मस्तायगा।
कुल जहाँ की झञ्झटों से भी नहीं घबरायगा॥

ज्यों लगा लब पर कटोरा छोड़ने का जी तेरा।
चाहेगा हर्गिज़ नहीं मन मोड़ने का जी तेरा॥
देखने वाले तुझे गर हेच दिखलाया करें।
कुछ न कर परवाह गरचे लाख समझाया करें॥

यार, रिश्तेदार हो, या शाह, शाहंशाह हो।
जब चढ़ा इसका नशा फिर क्या? न कुछ पर्वाह हो॥
हाथ में ले प्रेम प्याला बैठ आसन मार के।
आँख का कर बन्द बस दर्शन करो दिलदार के॥

इस मज़ा के सामने सब शौक दुनिया की सज़ा ।
है वही पाता कि जिस पर उस प्रभू की है रज़ा ॥
आग धर दे ख़ाने में वीरान कर उस बाग़ को ।
बू न जिसमें प्रेम की है छोड़ दे उस लाग को ॥

प्रेम को कब्ज़ा किया फिर है उसे परवाह क्या ?
डर नहीं दोज़ख का उसको स्वर्ग की है चाह क्या ?
प्रेम का बदनाम है वह लाख नामी से बढ़ा ॥
प्रेम बिन स्वामित्व भी दासत्व से भी है बढ़ा ॥

है न बेईमान दिल का साफ है और पाक है ।
गर न छींटा प्रेम का उसको लगा तो खाक है ॥
ऐश औ आराम को ऐ यार ! तरकारी समझ ।
प्रेम नीमक के बिना लज्जत की बस ख्वारी समझ ॥

हो गया हूँ मस्त मै पीकर पियाला प्रेम का ।
क्या अजब ही रङ्ग है "गोपी" निराला प्रेम का ॥

(मनोरजन, आरा)

प्रेम-बन्धन।

प्रेम ! तेरा साथ जो होता न जग मे प्रति घड़ी।
किस तरह तो सहन करते—यातना इतनी कड़ी ?
'है अलभ्य पदार्थ तू ही सृष्टि में' यह जान कर।
मान करते है सभी तव पूज्यता पहचान कर ॥

दे रहा है तू हमे, शिक्षा अनोखी नित नई।
जो अभी भावेश ! हम से है नही जानी गई ॥
तव दयामय दृष्टि से हम जन्म से पाले गये।
मोददा मा की मनोहर गोद में डाले गये ॥

पूज्य पति, पत्नी, पिता, सुत, शिष्य, गुरु, इनकी कथा।
किस तरह वर्णन करे, जो प्रेम-मय है सर्वथा ॥
बाल वृद्ध युवा रँगे है, प्रेम ही के रङ्ग मे।
दिन बिताते हर्ष मे हैं, प्रियवरो के सङ्ग मे ॥

प्रेम ही से हैं लता-तरु नित्य फलते फूलते।
मत्त गज की भाँति, प्यारे भाव से हैं झूलते ॥

विहग वर गाते मनोहर गीत मधुमय-प्रेम से ।
विहरते स्वच्छन्द पशुगण भी अभय हो क्षेम से ॥

भ्रमर क्षण क्षण भ्रमण कर क्यों भूल फूलों पर रहा ।
सोचिये ! "गुण गुण" अनुक्षण शब्द क्या है कर रहा ॥
मित्र ! आश्चर्यित न हो, यह और कुछ करता नहीं ।
प्रेम के गुण-गान मे है, धीर बस धरता नहीं ॥

बह रही नदियाँ अनेको सतत मिल जुल मोद मे ।
प्रेम से है नीर-निधि लेता उन्हे निज गोद मे ॥
प्रेम से उत्तुङ्ग गिरिमाला कहीं नभ चूमती ।
यह विषाद पृथ्वी अहा ? रवि के चतुर्दिक घूमती ॥

ग्रीष्म, वर्षा, शरद, षड्ऋतु समय के अनुकूल है ।
एक आती, एक जाती, दिव्य शोभामूल है ॥
ठण्ड पड़ती, ताप बढ़ता जल बरसता क्यो कहो ?
मुख्य इनका हेतु है "सत्प्रेम" ही निश्चय अहो ।

'प्रेम' से जग मे 'प्रभा'—कर नित्य आता दृष्टि है ।
चन्द्रमा निज किरण-द्वारा अमृत करता वृष्टि है ॥

ग्रह-उपग्रह-राशि-गण है सृष्टि यह सारी तथा ।
'प्रेम' से निज निज प्रकृति-पथ पर समस्थित सर्वथा ॥

यों चराचर जीव सब है "प्रेम-बन्धन" मे बँधे ।
जन्म ही से प्रेम के दृढ़ पाश में जाते फँदे ॥
भाइयो ! संसार में सत्प्रेम क्या ही रत्न है ।
सन्त जन सन्तत इसी की प्राप्ति-हित कृत-यत्न है ॥

—कवि केशवानन्द-मुकुटधर

(प्रभा, खण्डवा)

प्रेम ।

(कवि—बाबू व्रजनन्दन सहाय "व्रजवल्लभ")

जो कल्पना, जो लालसा, जो क्षोभ, मोद विचार हैं,
मानव-हृदय के बीच उगते प्रेम के उद्गार हैं।
है प्रेम जग का आदि कर्त्ता, सृष्टि का यह सार है,
है विश्व का पोषक, समर्थक ईश का आकार है ॥

सब श्रेष्ठ कार्य्यों का जगत में प्रेम ही उद्देश है,
मख, योग, जप, तप, ध्यान का यह प्रेम ही अवशेष है।
आनन्द आध्यात्मिक समुन्नति का यही भाण्डार है,
बस धर्म कर्म पवित्र का यह प्रेम ही आधार है ॥

है प्रेम के आधीन नभ मे जगमगाती तारिका,
हैं बोलती वन मे 'लगन' वश कोकिला शुक सारिका।
है प्रेम-सञ्चालक समीरण का विदित संसार मे,
नभ मे शशी, रवि भ्रमण करते शुद्ध प्रेम-प्रचार में ॥

कर भेद गिरिवर-गात्र को, अविचल अलौकिक टेक से,
जाती जलधि की ओर नदियाँ प्रेम के उद्रेक से।

शरदिन्दु नीलाकाश मे जब खिलखिलाता चाव से,
सानन्द जलनिधि है उमड़ता, प्रेम ही के भाव से ॥

घन-अङ्क में बिजुला समाती प्रेम के उच्छ्वास से,
शोभा बढ़ाता गुल्म-द्रुम की प्रेम के आभास से।
घन देख केकी नाचते हैं विवश होकर प्रेम से,
हिमकर चकोर निहारते हैं प्रेम ही के नेम से ॥

नर कामनी के वसन के हित कीट देते प्राण हैं,
करती पुरुष के हेतु रमणी रूप-यौवन-दान हैं।
हैं भृङ्ग के सुख के लिए खिलते तड़ागो मे कमल,
हैं मीन के सुख के लिए सहते कठिन हिम ताप जल ॥

मृग के लिए है वेणु रोती छेद छाती में किए,
दीपक जलाता देह अपनी शलभ के सुख के लिए।
अपने लिए न कदापि बरबस प्रेम करना चाहिए,
परहित विमल जल से सदा हिय-ताल भरना चाहिए ॥

है प्रेम जग का देवता सिद्धान्त सहज पुनीत है,
मिथ्या जगत का सब प्रपञ्च न प्रेम दैविक गीत है।

नाना स्वरूपों से विचरता प्रेम है संसार मे,
छवि देख लो इसकी मनोहर लोक मे परिवार में ॥

वह शिष्य-श्रद्धा, तात का वात्सल्य भाव पवित्र है,
त्यों स्नेह माता का सुपावन स्वजन नेह विचित्र है ॥
सात्विक सती का सत्य धर्म कठोर प्रेमोपासना,
त्यों भक्ति भक्तों की भली संन्यासियों की साधना ॥

"साहित्य की सेवा प्रशंसित देश की हितकामना,"
त्यों धर्म का पालन जगत में वैरियों का सामना ॥
ये प्रेम के सब भिन्न रूप अनूप परम पुनीत हैं,
सब धर्म व्रत साधन क्रियायें प्रेम ही के मीत हैं ॥

जो भक्ति, संयम, ध्यान, पूजन कीर्तनादिक हैं कड़े,
वे विविध सुन्दर नाम केवल प्रेम ही के हैं पड़े ।
है यज्ञ अद्भुत प्रेम प्यारे उच्च प्रेमो के लिए,
यज्ञाग्नि में निज स्वार्थ का शाकल्य देना चाहिए ॥

है प्रेम यज्ञ न पूर्ण होता स्वार्थ की आहुति बिना,
निःस्वार्थ प्रेमी के गुणों को मैं नहीं सकता गिना ।

है आत्म-विस्मृत महा योगी सहज प्रेमी सर्वदा,
इस बाह्य जग की ओर उसकी दृष्टि है जाती कदा ॥

अपने सुखों की ओर वह भ्रूक्षेप भी करता नहीं,
उपहास, निन्दा, ताप, दुख से वह कभी डरता नहीं ।
उठती नहीं है भूल कर भी कामना उसको कभी,
हैं वासनायें सहज उसकी दग्ध हो जाती सभी ॥

आराध्य प्रियतम के सिवा वह और किसको मानता,
आराध्य प्रियतम छोड़ कर जग में नहीं कुछ जानता ।
आराध्य प्रियतम को सदा सब वस्तु में अवगाहता,
आराध्य प्रियतम छोड़ कर वह और किसको चाहता ?

तन्मय सदा ही मग्न रहता प्रेम ही के ध्यान में ।
निज को सदा ही भूल जाता प्रेम ही के ज्ञान में ॥
कर त्याग संस्रव स्वार्थ का वह प्रेम में अनुरक्त है,
आदर्श प्रेमी पुण्य-भाजन प्रेम का वह भक्त है ॥

जग में कभी प्रेमी नहीं कुछ मुक्ति को है मानता,
है मुक्ति प्रेम पुनीत ही मन में सदा वह जानता ।

अनुपम, मनोहर, सरल, सुखमय भाव उसके हैं सभी,
कोई नहीं है दुःख पाता विश्व मे उस से कभी ॥

प्रभु के अनुग्रह के बिना कोई प्रणयि होता नहीं,
है प्रेम मे उन्मत्त होकर दिवस निशि रोता नहीं ।
प्रेमाश्रु मन को शुद्ध करता स्वार्थ को देता बहा,
सङ्कीर्णता, अपवित्रता, ममता नहीं रहती अहा ! ॥

पाकर प्रणयनिधि फिर नहीं नर याचना करता कभी,
उसके हृदय से निकल जातीं और इच्छायें सभी ।
सेवी प्रणय के पद-जलज का अन्य पुष्प न चाहता,
है प्रेम उज्ज्वल कल्पतरु सुख अपर है चञ्चल-लता ॥

शिक्षास्थली है प्रेम की संसार निश्चय जानिए,
जो प्रेम की शिक्षा न पाता अधम उसको मानिए ।
नर-जन्म उसका व्यर्थ है जो प्रेम का भूखा नहीं,
जो प्रेम का करता निरादर सुख नहीं पाता कहीं ॥

अतएव, वाचक, छोड़ कर छल प्रेम की सेवा करो,
हिय की कटोरी प्रेम के पीयूष से प्यारे भरो ।
पारस्परिक द्वेषादि तज कर प्रेम के रँग में रँगो,
अवसर नहीं फिर फिर मिलेगा मोह-निद्रा से जगो ॥

(सरस्वती)

बिदाई !

आज हम लेते हैं तुमसे चिर-बिदा,
प्राणधन ! हमको कदापि न भूलना ।
मिलन के उस प्रेममय आनन्द को,
याद करना, भूल कर मत भूलना ॥

हम चले जाते हैं तुमसे दूर जो,
प्राण को रखते तुम्हारे पास हैं ।
देह भर बिछुड़ी अगर तो क्या हुआ,
हृदय जब हरदम तुम्हारे साथ है ।

हृदय हमने दान तुमको कर दिया,
यत्न करना, प्यार से रखना इसे ।
मन को बहलाना खिलौना जान कर,
स्वप्न में भी तोड़ना तुम मत इसे ।

—"प्रेम-पथिक" (धर्म्माभ्युदय)

प्रेम-पुष्पाञ्जलि !

(विद्यारत्न पण्डित विजयानन्दजी त्रिपाठी)

कवित्त

सेवा के समै मे संभु सीस पै चढ़ाइवे को,
फूलभरी अंजली पधारी उमा नेह सों।
लखि ललचाने तीन लोचन तिलोचन के,
थहरी पसीजी लजी पुलकित देह सो।
बार बार ऍड़ी अलगाय कै उचकि लफी,
गई लचि बहुरि पयोधर विदेह सो।
बिखरति देखि दई बीचहीं मे छोड़ि जा को,
जग की सहाय होवे प्रियता सदेह सो ॥१॥

सवैया

संभु के लालची लोचन सामुहे
आई उमा गुनि औसर प्यार सो।
सीस पै दैवे को ऍड़ी उठाय
लफी कई बार नई कुच-भार सो।
देखि लजानी कँपी पुलकी
औ पसीजी सकी बिखरी न सँभार सों।
बीचहि छाड़ि दई सुम-अंजलि
हो सब ही जग को सुख सार सो ॥१॥

—"श्रीकवि"

प्रेम का निराला ढंग।

चन्द्रिका चकोर देखे निसि दिन करै लेखे
चन्द बिन दिन छिन लागत अँध्यारी है।
"आलम" सुकवि कहै अलि फूल हेत गहै
काँटे सी कटीली बेलि ऐसी प्रीति प्यारी है।
कारो कान्ह कहत गँवार ऐसी लागत है
मेरे वाकी स्यामताई अति ही उज्यारी है।
मन की अटक तहाँ रूप को विचार कैसो?
रीझिबे को पैंड़ो और बूझ कछु न्यारी है।

विकट प्रेम-पंथ।

अति छीन मृनाल के तारहु ते
तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई बेध ते द्वार सकी न तहाँ
परतीति को टाँड़ो लदावनो है।
"कवि बोधा" अनी घनी नेजहु ते
चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पन्थ कराल महा
तरवार की धार पै धावनो है॥

प्रेमानुभव ।

दहै अंग को पतंग दीप के समीप जाय
वारिज बँधाय भृङ्ग दरद न मानई ।
सुनि कै विपची धुनि विशिख सहै कुरंग
सती पति संग दहे दुख को न आनई ।
मनी हीन छीन फनी, मीन वारि सो विहीन
ह्वै कै मलीन अति दीनता बितानई ।
चातक मयूर मन मेह के सनेह ऊधो
जाकी लगे नेह सोई देह भले जानई ॥

—रसकुसुमाकर ।

प्रेम की शक्ति ।

मै यह कहता हूँ कि बैठ, और दिल यह कहता है सँभल ।
अक़्ल कहती है नहीं, और पैर कहते हैं कि चल ॥
होश किस को है ? कहाँ जाता, किधर आता हूँ मै !
एक शक्ती है जिधर खीचे उधर जाता हूँ मै ॥

— मायल ।

प्रेम-पागल ।

दिल के आइने मे है तस्वीर यार ।
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली ॥१॥

समाया है जब से तू नज़रों मे मेरे ।
जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है ॥२॥

बहुत ढूँढ़ा उसे हर्गिज न पाया ।
अगर पाया पता अपना न पाया ! ॥३॥

तुम्हारे वास्ते मिलना पड़ा सारे ज़माने से ।
अगर तुम मिल गये होते तो मैं सबसे जुदा होता ॥४॥

मै वह नही कि तुम हो कही और कहीं हूँ मै ।
मै हूँ तुम्हारा साया जहाँ तुम वहीं हूँ मै ॥५॥

तुम भूल कर भी याद नही करते हो कभी ।
हम तो तुम्हारी याद मे सब कुछ भुला चुके ॥६॥

प्रेम का रोगी।

मरीज़े इश्क पर लानत खुदा की।
मरज़ बढ़ता गया ज्यो ज्यो दवा की॥

*   *   *   *

बदतर है मौत से भी जियादा यह ज़िन्दगी।
वह जी गया जो इश्क का बीमार मर गया॥

*   *   *   *

बीमार इश्क़ का जो न तुमसे हुआ इलाज।
कह ऐ तबीब तू ही कि फिर तेरा क्या इलाज॥

*   *   *   *

"कबिरा" बैद बुलाइया, पकरि के देखी बाहि।
बैद न वेदन जानई, करक करेजे माहिं॥
जाहु बैद घर आपने, तेरा किया न होय।
जिन या वेदन निर्मई, भला करैगा सोय॥

"कबीरदास"

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी

मेरा दरद न जाणे कोय ॥

सूली ऊपर सेज हमारी

किस विध सोणा होय ॥

गगन मंडल पै सेज पिया की

किस विध मिलणा होय ॥

घायल की गति घायल जानै

की जिन लाई होय ॥

जौहरी की गति जोहरी जानै

की जिन जौहर होय ॥

दरद की मारी बन बन डोलूँ

बैद मिल्या नहिं कोय ॥

"मीरा" की प्रभु पीर मिटैगी

जब बैद सँवसिया होय ॥

—"मीराबाई"

JAIN LITERATURE IN ENGLISH.